आधुनिक कथा-साहित्य

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय, एम० ए०

प्रमोद पुस्तक-माला की बीसवीं पुस्तक

प्रकाशक—

पं० करुणाशंकर शुक्ल

प्रमोद पुस्तकमाला, यूनीवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

विषय क्रम

—:o:—

स्पष्टीकरण

इस पुस्तक की भूमिका स्वरूप एक कहानी कहने के सिवाय और मुझे कुछ नहीं कहना। कहानी यह है—बुद्ध भगवान ने अपने सारे वैभव को त्यागकर एक भिक्षु का जीवन ग्रहण किया था। अपने अतिम दिनो मे वे अपने शिष्य भिक्षुओ द्वारा उपार्जित भिक्षा से जीवन यापन करते थे। एक बार उनके एक शिष्य ने लाकर उन्हे एक बहुत फटी लटी चीकट-सी साडी दी, तथागत ने पूछा—यह किसका दान है। शिष्य ने बताया कि एक अनाथ स्त्री जिसके पास और कुछ नही था मेरे कुछ मागने पर वह अपनी एक मात्र साडी दे कर अपनी लाज रक्षा के लिए एक पेड की ओट मे खडी हो गई थी। बुद्ध भगवान ने कुछ क्षण मौन होकर कहा—यही दान सबसे महान है। हीरा, मोती और बहुत-सा वैभव देने वाले व्यक्ति उस अनाथा की समता नही कर सकते। उसका दान और त्याग बहुत ही उत्तम है। किन्तु उसका जीवन बहुत अकिंचन है अतएव उसकी देन एक ओर उसको निरावरण कर देती है दूसरी ओर पाने वाले के हृदय मे तृप्ति के साथ क्षोभ का भी सचार करती है। जीवन में कार्य की सुचारुता के लिए आत्मा की लाज और परोपकार की वेदनाग्राहिणी प्रवृत्ति दोनो की रक्षा होनी चाहिए। यही हाल हमारे साहित्य का है। विचारो, भावो और कल्पनाओ की उसमे कमी नही किन्तु उसका जीवन अत्यन्त खोखला और बुभुक्षित है। कारण यह है कि हमारा सम्पूर्ण राष्ट्र विशेष कर साहित्यिक भारत बहुत पीडित और उदास है, वह जीता नही घसिटता है। जीवन-व्यापी विपुलता के कारण वह पग-पग पर पराजित सा अनुभव करता है, उसके साहित्य मे भी उस आशका का आभास अनिवार्य हो उठता है। सामूहिक मानव के भोग

वस्त्र और निवास की समस्या के समाधान के बिना उच्च स्तर के साहित्य और कला के सृजन की सम्भावना नही रहती, यदि सृजन हुवा भी तो वह शक्ति, सौष्टव और सांस्कृतिक चेतना से दूर कुछ इधर-उधर की खीच-तान से सयोजित और अनगढ़ सा होता है। सम्भवतः यही कारण है कि कला और साहित्य पर विचार करने के लिये उसके निर्माण-युग की परिस्थितियो की जानकारी आवश्यक और अनिवार्य है, अन्यथा उस साहित्य का विवेचन अधूरा और अविश्वसनीय ही रहेगा। परिस्थितियो के अध्ययन मे यह स्मरण रखना चाहिए कि वे केवल आर्थिक या राजनीतिक अथवा सामाजिक ही नही होती। अन्य अनेक समस्याये, यहा तक कि व्यक्ति की अपनी इच्छाये-आकांक्षाये भी अपना प्रभाव और महत्व रखती हैं। इन सब के सम्मिलित स्वरूप से ही मानव का इतिहास पूर्ण होता है। अतएव साहित्य से जीवन की किसी स्थिति का निर्वासन नही किया जा सकता, जो कुछ जीवन मे सम्भव है सभी साहित्य का शृगार हो सकता है। विलास और वैभव के सम्पन्न स्वर की साहित्य को उतनी ही अपेक्षा है जितनी शोषित और पीड़ित आकुल क्रन्दन की। क्योंकि साहित्य मे आध्यात्म और भौतिकता, सूक्ष्म और स्थूल, आदर्श और यथार्थ, सौन्दर्य और कुरूपता सभी का सहज समन्वय और कलात्मक सगठन हो जाता है। तभी साहित्य मे जीवन का केवल कोई विशेष पहलू ही सामने नही आता, उसमे जीवन की समग्रता की सस्थापना रहती है। दुर्बल त्याग, स्वय अपना पुरस्कार बन जाता है, उसमे जीवन की शक्ति और निष्ठा की अपेक्षा जीवन की दुर्बलता का ही विस्तार होता है।

विश्व की नवीन जागृति, समय की सुविधा एव मानवीय मूल भावना की प्रगतिमयी प्रेरणा ने हमारे साहित्य मे भी स्थान पाया है। आज का साहित्यिक केवल कल्पना लोक मे नहीं विचरण करता वरन्

यह अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं की वास्तविकताओं के प्रति भी सजग और सचेष्ट रहता है। स्वभावतः साहित्य और समाज के बीच का कृत्रिम व्यवधान दिन प्रतिदिन क्षीण पड़ता जाता है और लोग अब साहित्य का सामाजिक मूल्य भी देखने लगे है। आज का सामान्य मानव भी यह समझ गया है कि साहित्य वह पारदर्शी पदार्थ है जिसमे समाज की छाया पड़ती है, साहित्य राष्ट्र का वह परिधान है जो जीवन जगत और जनता के सुख-दुख के विरल सूतो से बुना गया है, साहित्य समाज का वह स्वरूप है जहा अनेकानेक व्यक्तियो, वर्गों और सिद्धातो तथा भावनाओ के उत्थान पतन एवं विकास विनाश का सकेत और सदेश सुरक्षित रहता है। तब भला साहित्य की सामाजिकता की उपेक्षा करके उसका सृजन कैसे सम्भव हो सकता है। विश्व-जीवन की इस स्थिति मे हमे उस साहित्य की आवश्यकता है जो हमारी मृतक धमनियो में फिर से नवीन उष्ण रक्त और अभिनव जीवन का सचार कर दे, हम उस साहित्य का स्वागत करते हैं जो हमारी सामाजिक विषमता और राजनीतिक दासता की कालिमा को अपनी स्नेह स्वच्छ धारा से धो दे और मानवता की मर्मान्तक व्याधियो का विनाश कर दे। आज भारत अपने साहित्याकाश मे उस ज्योति का उदय देखना चाहता है जो अपने पावन प्रकाश की शक्तिमत्ता से मानव की पाशविक प्रवृत्तियों की आख मे चकाचौंध पैदा करके उसे सामाजिक जीवन के प्रति एक ममता दे, समानता का सन्देश दे और दे मातृभूमि के उद्धार की सघर्ष प्रस्फुटित शक्ति। साहित्य के इस उपर्युक्त उद्देश्य को लेकर आज प्रत्येक समझदार व्यक्ति के सामने साहित्य सम्बन्धी कुछ प्रश्न स्वभावतः उपस्थित हो जाते हैं। हमारे साहित्यिकों, कलाकारो तथा समालोचकों का, जोकि राष्ट्र के मस्तिष्क और दृष्टि स्वरूप हैं, आज की इस विकट स्थिति मे क्या कर्तव्य है? किसी भी समस्या या प्रश्न के उत्तर की खोज अनुभव और बौद्धिक

निरीक्षण के आधार पर होनी चाहिए, तभी कोई भी समाधान प्रयोग और सक्रियता की व्यावहारिक कसौटी पर खरा उतर सकता है अन्यथा नही। आज का विपन्न युग अपनी आवेग आकुलता में अपने अतीत के प्रति एकदम उदासीन सा होता जा रहा है किन्तु मानवीय विकास के लिये यह ठीक नही है। अतीत की त्रुटियो और विफलताओं तथा विवशताओ की पीठिका पर ही वर्तमान का निर्माण होता है। धनुष पर चढ़ा वाण जितना ही अधिक पीछे खीचा जावेगा उतना ही अधिक गतिशील होकर वह लक्ष्य की ओर अग्रसर होगा। इसी प्रकार युग साहित्य भी अपने अतीत की सीमा रेखा से ही अपनी गति की व्यवस्था करता है।

मनुष्य का निर्माण एक समाज विशेष और एक स्थिति विशेष में होता है, उसकी कला की प्रेरणा भी उसी से प्रभावित होती है। जिस युग का जीवन, जिन सुख-दुख की विषम परिस्थितियो के विषम घात-प्रतिघात से विकसित होता है, उस युग का कलाकार अपने को उस व्यापक सघर्ष से अलग नही रख सकता, और यदि ऐसा करे तो वह कलाकार नही एक विदूषक मात्र है। अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओ की सुचारुता और सामान्यता का सुझाव और समाधान उसकी कला मे अवश्य ही अभासित होना चाहिए। कुछ लोगो की धारणा है कि साहित्यिक तो समाज, और राज-नीति की परिस्थितियो से परे, एक देव-दूत की भाति अपनी साहित्य-सृष्टि करता है, और इसके विपरीत कुछ लोगो का कहना है कि साहित्यिक को सैद्धान्तिक, और क्रियात्मक दोनो ही रूपो से, समाज के साथ चलने की चेष्टा करनी चाहिए। दोनो दृष्टिकोण सत्य का आशिक-आधार रखते हुये भी, पूर्णतः ठीक नही हैं। साहित्य तो यथार्थ की उद्देश्यमय कलात्मक-अभिव्यक्ति है, वह न तो समाज की प्रतिलिपि है, न व्यक्ति (साहित्यकार) की कोरी कल्पना। वह

दोनो का सापेक्ष-सामञ्जस्य है। बिना सामञ्जस्य के इस आधार के, कोई भी साहित्यिक-कृति सफल नही हो सकती, यह निश्चय है। युग-धर्म के साथ, पूर्णतया सहयोग करते हुए, भारतीय-साहित्य के अमर-कलाकारो ने समग्रता को कितनी सफलता से अपनाया है, इसका विचार यहाँ किया जावेगा।

विवेचनात्मक दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि भारतीय-साहित्य, सदैव सामाजिक-विकास का सजीव-चित्र रहा है। आदि-काल में आर्य लोग छोटे-छोटे समूहो में सरिताओ के तट पर, मुक्त-गगन के नीचे, प्रकृति के बीच मे रहते थे। उस समय जीवन के उपादान, चाहे इतने सघर्षमय न रहे हो पर बहुत सहज प्राप्त नही थे। लोगो को अधिकतर प्रकृति की देन पर ही निर्भर रहना पडता था। स्वभावतः उन्होने उषा, सध्या, चाँदनी, और बादल के भिन्न-भिन्न रूपो का आस्थामय चित्रण किया, और उसी मे अपनी चिन्तना, तथा भावुकता की तृप्ति पाई। कभी-कभी बन-जीवो, तथा अनार्यो (राक्षसो) के सघर्ष का भी समय आता था, उसका भी चित्रण वेदो मे है। वेदकारो के इन प्रत्यक्ष-चित्रणो के साथ, उनका अप्रत्यक्ष-सूक्ष्म भी दूध मे पानी की भाँति मिला है। बादल को वे केवल प्राकृतिक-परिणाम ही नही मानते, वरन् वे उसमे एक चेतन-व्यक्तित्व क भी आरोप करते हैं:—

सुजातासो जनुषा रूक्मवक्षसे दिवो अर्का अमृत नाम मेजिरे

ऋ० ५-५७-४

(कल्याणार्थ उत्पन्न, ज्योतिर्मय-वक्षवाले, इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर है)

इसका केवल कारण यह है कि स्थूल-आवश्यक सत्ता मे, सूक्ष्म-सौन्दर्य का दर्शन, मनुष्य की मनुष्यता का प्रमाण है। जीवन की व्यापकता में, स्थूल और सूक्ष्म का सम्मेलन, मनुष्य मे मनुष्यता की

भांति ही निश्चित है। इसलिए मनुष्य को पूर्ण-मानव बनने के लिए प्रत्यक्ष-सत्य, और इच्छित-भावनात्मक-सत्य का समन्वय करना आवश्यक है। धीरे-धीरे आर्यों मे सामाजिक-जीवन का उदय हुआ, और वे निवास बनाना सीख गए। सामाजिक कारणो का भी ज्ञान प्राप्त किया, और एक व्यवस्थित-समाज मे रहने लगे। गृह सूत्रो मे इस बात के प्रचुर-प्रमाण मिलते हैं। समाज की व्यवस्था के पश्चात्, उसकी गतिशीलता और सुचारुता सचालन के लिए, सामाजिक विधि-विधान बने। इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते मानव मे बुद्धि का विकास बढ गया, और वह भावना की अपेक्षा चितना परिचालित होने लगा।

साधारणतया मनुष्य, मानसिक-वृत्तियो के दृष्टिकोण से दो श्रेणियो मे विभाजित हो सकते हैं, बुद्धिप्रधान और हृदयप्रधान, बुद्धि के लिए भौतिकता सर्व-प्रथम आवश्यक है, और हृदय के लिए भावात्मक-सत्तायें, जिनके आधार पर वह अपनी मानसिक-प्रतिमाओ को ससार मे अवतीर्ण करना चाहता है। बुद्धि के विकास के साथ, सामाजिक-व्यवस्था संभालने के लिए, मनुष्य के बीच मे राजा का आविर्भाव हुआ। इस धूमकेतु के साथ ही, बुद्धि के बल पर इच्छा ने, अधिकार का रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप जो उत्पात शुरू हुए, वह किसी से छिपे नही हैं। आदि-काव्य रामायण, जीवन की सारी समग्रता के साथ, इस बात का साहित्यिक-साक्षी है। भारतीय सामाजिक-जीवन का यही बुद्धि-प्रसार था। चूँकि बुद्धि मे आस्था का स्थान नही होता, इसलिए असतोष ही उसका निश्चित परिणाम होता है। किन्तु इस बौद्धिक-आवेश की उपेक्षा से, कभी हृदय अपनी सत्ता नही खोता। महाभारत के भीषण रक्त-पात मे, बुद्धि, तथा आस्था का ही द्वन्द्व-युद्ध परिलक्षित है, जिसमे निश्चय ही आस्था अविजित रही। मानव-जीवन के ऊषाकाल से ही, ऐसी विचार-धाराओ का सघर्ष होता चला आया है, और शायद जीवन की अनन्त-व्यापकता का यही सब से बडा

प्रमाण है। बुद्धि, और हृदय की समन्वयात्मक-प्रवृत्ति ही, मानव और पशु के बीच मे विभाजक-रेखा है, क्योकि मानव की सृष्टि, कही स्वतन्त्र रूप से दुनिया के बाहर नही हुई, बल्कि वह पशुओ की एक विशेष श्रेणी का ही विकसित-रूप है। मानव की वह प्रवृत्ति, या प्रतिभा, जो उसे निरन्तर अपनी प्रत्यक्ष-स्थूल-पार्थिव-परिस्थिति से ऊपर उठा कर, अप्रत्यक्ष-काल्पनिक-सूक्ष्म-विकास की ओर ले जाती है, उसकी श्रेष्ठता का मूल-कारण है। यह विचार-पद्धति, यह विकास-शीलता, यह बुद्धिवृत्ति, केवल मानव में ही नही होती, अन्य दुग्धपायी जीवो मे भी ये गुण पाये जाते है, किन्तु मानवो की भाति-कलात्मकता का उनमे अभाव होता है, इसीलिए वे मनुष्य से नीची-श्रेणी के जीव माने जाते हैं।

तो, कला मनुष्य के मनुष्यता की सब से पहली शपथ है। रूस के आधुनिक थियेटर-घरो के सामने, बड़े-बडे अक्षरों मे लिखा ध्येय यहाँ उल्लेख करने लायक है 'बिना काम के जीना डकैती है, और बिना कला के काम करना शठता तथा पशुता है'। कला मनुष्य जीवन की साधना है, साधन नही। यही कारण है कि अन्य जीवो की कृतियो मे हमे कलात्मकता के दर्शन नही होते, वह उनके लिए साधन-मात्र बन कर रह जाती है। बहुत से ऐसे जानवर हैं, जिनकी खोहे बहुत ही सुन्दर होती हैं, बहुत से ऐसे पक्षी हैं, जिनकी नीड-रचना मे आश्चर्य-जनक कार्य-कुशलता का पता चलता है, किन्तु वे जीवन-यापन की आकुल-आवश्यकता के ही आविष्कार हैं, कला-कृतियाँ नही। क्योकि ये उन जीवो की साधना नही, साधन हैं। कला की प्रवृत्ति, या प्रेरणा, मनुष्य के स्वाभाविक-सौदर्य-बोध का फल है, जीवन-यापन की क्रियाशीलता का नही। पशु, अपनी आवश्यक खाद्य-सामग्री किसी भी स्थान, तथा पात्र मे पाकर, पुलकित

हो उठेगा, किन्तु मनुष्य उस आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ, सुरुचि और सौन्दर्य का भी सम्मान करेगा, उसकी कामना करेगा।

इन्ही कारणो से मानव-इतिहास का आदि उसकी कला-कृतियों के प्रारम्भ से ही माना जाता है। कला केवल आवश्यकता नही, उससे कुछ अधिक का परिज्ञान है, वह हृदय का आधिक्य है, अतर का वैभव है, आत्मा की सत्ता का प्रतीक है। आदि मानव अपनी आवश्यकताओ के लिए प्रकृति की वाह्य-दासता स्वीकार करते हुए भी, अपनी आन्तरिक-सम्पन्नता का परिचय, कला-कृतियो से देता आया है, और अन्त मे उसने प्रकृति पर विजय भी पाई है। इसमे सन्देह नही कि जीवन मे आवश्यकता प्रधान-तत्व है, कला गौण, पर मनुष्य जैसे बिना भोजन के नही जी सकता, उसी प्रकार बिना कला के भी नही रह सकता, इसे स्वीकार ही करना पड़ेगा। मानव इतिहास के सभी समयो मे उसकी कला प्रियता बराबर उसके साथ रही है, और रहेगी।

हाँ तो, महाभारत-युद्ध का सबसे बडा महा-प्रयाण बुद्ध-धर्म है, महामैत्री, महाकरुणा। सारा बुद्ध-साहित्य इन्ही तत्वो से भरा पडा है। इसकी प्रतिक्रिया से उत्पन्न हिन्दू-धर्मोत्थान, जिस मार-काट का सूत्रपात करता है, उसे हम भारतीय भली भाँति जानते है। यहाँ से इस आपस की फूट का स्वाभाविक फल, देश को दासता मिलती है। मुसलमानो का आक्रमण, नर-सहार, देश की सस्कृति, साहित्य और सुन्दर-प्रवृत्तियो का विनाश, और उसी का फल है, हमारी आज तक की भय, आशका. ग्लानि, गरीबी और हीन-मनोवृत्ति। इस प्रकार की पराजित-जाति, सदैव निराशा, और उदासी की आकुलता मे ईश्वर शरण की ओर उन्मुख होती है। भक्ति, तथा अतीत-स्मृतियो में रमने का परिणाम, आलस और अकर्मण्यता होता है, जिसकी चरम-परिणति हमारे साहित्य का रीतिकाल है। इन तथ्यो को हम इतिहास से

अधिक, अपने साहित्य के द्वारा जानते हैं। साहित्य-सृष्टि एक सामाजिक-मानव की कृति है, वह जीवन, तथा परिस्थितियो से दूर कही आकाश की नीलिमा-मयी-नीहारिका मे नही पनप सकती, यह निर्विवाद है। जिस समय समन्वय के सार्वभौम-सिद्धान्त को छोडकर साहित्य कस एक प्रवृति विशेष की ओर अग्रसर होता है, उसका विरोध प्रारम्भ हो जाता है। सहसा रीतिकालीन-समाज, और साहित्य की सूक्ष्म-आत्मिक, तथा हार्दिक-वृत्तियॉ विद्रोह कर उठी, और सहज-स्वाभाविक मानवीय-प्रवृत्तियो का पुनरुत्थान हुआ। देश मे जागरण की लहर दौड पडी, जीवन की सुचारुता, और सामञ्जस्य के सदेश सुनाई पड़ने लगे, और बुद्धि तथा हृदय के समुचित-सतुलन की माग होने लगी। यही हमारे साहित्य का आधुनिक युग है। युग के प्रकाशन, तथा अन्य वैज्ञानिक-साधनो ने इसमें सहयोग दिया, और जीवन के उपयोगी-तत्वो का प्रचार, तथा प्रसार होने लगा। आधुनिक-साहित्य की विवेचना से, इसकी परीक्षा हो सकती है। साहित्य में युग परिवर्तन और जागरण की सूचना देने वालो मे, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्द प्रमुख हैं। भारतीय जीवन के जिस विकास-विशेष की सूचना हमे इन कलाकारो की कृतियो मे मिलती है, वह हमारी ऑखो मे नूतन-प्रकाश भरने की स्तुत्य चेष्ठा है। आधुनिक साहित्य, इन्ही प्रयासो, साधानाओ का सुफल है, जिसमे जीवन, जनता, और जगत का सतुलित सामञ्जयस्य है। भारतीय-साहित्य-गरिमा जो कभी देवदासी, कभी राजदासी थी, वह यहॉ पहुँचकर जीवन-सगिनी वन जाती है। ठीक भी है, जो साहित्य कभी वैदिक-ऋषियो का, कभी रामकृष्ण का, कभी बुद्ध महावीर का, कभी पृथ्वीराज जयचद का, कभी भूषण शिवाजी का, तथा कभी हरिश्चन्द्र और अग्रेजो का था, वह अब कुछ जनो का न होकर जनता का हो गया। इसको ससार की कोई शक्ति नहीं रोक सकती है। हमारे साहित्य मे अब ईश

आराधना और देव उपासना की अपेक्षा, श्रम साधना का महत्व अधिक है। हमारे ही यहाँ नही, सारे विश्व मे आज परिश्रम ही आराध्य, और परिश्रमी आराधक है, स्वभावतः साधक और सिद्ध भी वही है। साहित्य की इस प्रवृत्ति का विरोध, सूर्य पर धूल फेकने के ही समान होगा।

यह प्रायः देखा जाता है कि नवीन युग को अपना स्थान बनाने के लिए पुराने युग से संघर्ष करना पड़ता है, क्योकि समूह अधिकतर पुराणपंथी, प्रतिक्रियावादी, एव रूढिप्रिय होता है। किन्तु अन्त मे नवीन जीवनोपयोगी भावना की विजय निश्चित रहती है अन्यथा ससार विकास की इस स्थिति पर कभी न पहुँचता। द्विवेदी युग की जिस विरोध-भूमि पर हमारे छायावाद ने विकास पाया है वह किसी से छिपा नही। देश की रूढिगत सकुचित स्वदेशानुरागिता तथा काव्य की नीतिवद्धता से जीवन की व्यापक भूमि मे आने का श्रेय छायावाद युग को है। 'प्रसाद' के इस गीत में देश की जो रूप रेखा खीची गई है, उसमे देश की महिमा, तथा उसके प्रति कवि की जिस आन्तरिक स्नेहशीलता का उद्घाटन हुवा है, वह कोरी पद्य रचना ही नही, वरन् कवित्व की सरसता से ओतप्रोत है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा!

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा!

सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर!

छिटका जीवन हरियाली पर मगल कुमकुम सारा!

ऐसे ही उनके अनेक पदो नाटको और कहानियो में नूतन चेतना, तथा मानस वृत्तियो की सूक्ष्म, एवं सरस अवतारणा के साथ, देश की करुण परिस्थितियो का चित्रण है, जिसमे हमे व्यापक सवेदनीयता का पूर्ण परिचय मिलता है। 'निराला' की 'विधवा', भिखारी आदि कविताएं; और अनेक कथाए, पीड़ित-वर्ग की ममतामयी-मानस मूर्तियाँ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी कवियो ने सौन्दर्य, प्रकृति, तथा

व्यक्तिगत-भावोन्मेष के बीच मे व्याप्त जीवन, एव समष्टिगत-भावनाओ को भी अपनी काव्य-ममता दी है। इसमे सन्देह नही कि इस युग के कवियो ने सामाजिक आधार के साथ, व्यक्ति की स्वतत्रता का भी पूर्ण-प्रतिपादन किया है। एक वैज्ञानिक की सचाई के साथ, भावनाओ, तथा कल्पनाओ का चित्र दिया है, जीवन की विषमता मे एक व्यापक समता की स्थापना की है, वाह्य जीवन के साथ-साथ, आतरिक जीवन की झाकी दी है, और साहित्य का भावनात्मक सस्कार किया है। इन कलाकारो ने समवेदना, तथा अनुभूति के जिस स्वर को स्पर्श किया है, वह हमारी वहुत सी सात्विक प्रवृत्तियो के जगाने मे समर्थ हुआ है, इसमे सन्देह नही। इस युग मे न तो काल्पनिक-आदर्श का आधिक्य है, न विकृत-यथार्थ की आकुलता का वरन् दोनो के सामञ्जस्य का स्वर-सन्धान है। उनकी अन्तर्मुखी-प्रेरणा, जीवन से पलायन का परिचय न होकर, साधनात्मक परितृप्ति है, क्योकि उन्होने अपनी आन्तरिक-शक्तियो को, अपने जीवन मे साकारता, तथा स्पष्टता दी है। यही कारण है कि किसी छायावादी प्रतिनिधि-कलाकार मे विलासिता, विद्वेष, और सस्ती-उत्तेजना के चित्रो का सर्वथा अभाव है। उनका जीवन की इतिवृत्तात्मकता के प्रति मौन, उसके प्रति उनकी उपेक्षा का द्योतक नही, वरन् दीर्घकालीन-दासता की विवशता का मौन है, जो कलाकार की वाणी का सयम, तथा शक्ति ही का प्रतीक है। वास्तविकता का ग्रहण आवश्यक है, किन्तु वाणी से नही जीवन से। कहना न होगा कि उस युग के साहित्यिको ने, अपने विश्वासो के प्रति, सामाजिक, तथा राजनीतिक अनेक यातनाये सही हैं। निश्चित स्थान को जानेवाले पथ से, हमे उस स्थान का परिचय कभी नहीं मिल सकता, इसीप्रकार साहित्यिक की वाणी साधन मात्र है, सिद्धि नही।

आधुनिकतम साहित्य मे, वैभव की वॉञ्छा, तथा यश की लिप्सा रखने वाले सम्पन्न-व्यक्तियो का एक दल सामने आरहा है, जो जीवन

का जो स्वरूप रागात्मक-रस का उद्बोधन करता है, वही उसकी साहित्य-सृष्टि का विषय होता है, और जो अश उस के ज्ञान को जगाता है वही चिंतन का विषय बन जाता है। जीवन का भावात्मक-रूप, कला का प्राण है, और चिंतन की प्रणाली, ज्ञान की गरिमा है। कला तो भावना की सृष्टि है, दृश्य जगत की प्रतिमूर्ति नही। साहित्य का जीवन साहित्यकार की निजी समवेदनीयता, तथा सात्विकता से अपना स्वरूप पाता है। मानव-जीवन कितना ही विभिन्न होकर मूल रूप मे एक है, अतः एक की जीवन-साधना से सब की सहानुभूति जाग्रत हो उठती है, जो कलाकार के साधना की चरम सिद्धि है। कलाकार, जब हृदय के स्थान पर बुद्धि तथा भाव के स्थान पर तर्क की स्थापना करता है, तब समझ लेना चाहिये कि वह आत्म-हत्या की तैयारी कर रहा है। इसीप्रकार साहित्य मे किसी भी विजातीय-भाव धारा का आह्वान वही तक उचित है, जहाँ तक वह अपने देश की सचित-सस्कृति, और मौलिकता के भीतर समाहित हो सके, क्योकि ग्रहण जीवन की रक्षा के लिये होता है, जीवन त्याग के लिये नही, अन्यथा मृतक को चाहिये ही क्या ?

जीवन की समालोचना के रूप मे, साहित्य के अन्तर्गत कलाकार की उन सभी भावनाओ का समावेश हो जाता है, जो जीवन की सुचारुता का स्पष्ट उद्देश सामने रखती हैं, किन्तु व्यापक-जीवन की शुचिता, तथा सदाचारिता का उसमे अभाव नही हो सकता। 'जीवन किस प्रकार व्यतीत किया जाय' के प्रश्न को हल करने के लिये ही, साहित्य में जीवन की व्याख्या की जाती है। अस्तु, जो साहित्य जीवन-यापन की सुन्दर सार्वजनिक-योजना का उद्घाटन नही करता, उसका स्वभाव कभी, साहित्य कहे जाने योग्य नही होता। साहित्य का यही स्वरूप विश्व-कल्याण कारिणी-भावनाओ से ओतप्रोत रहता है। 'ससार के सत्य को सौदर्य के माध्यम से देखने की रुचि को ही साहित्यिक-महत्व प्राप्त होता

है। समस्त विश्व के मूल-रहस्य को सौंदर्य हमारे सामने प्रत्यक्ष कर देता है। जिस प्रकार- मधुर-कोकिल-कंठ से निकला एक स्वर, समस्त-वायुमडल को आछन्न कर लेता है, उसीप्रकार सौंदर्य-बोध, सृष्टि के सारे रहस्य को अपने मे समाहित किये रहता है। सकीर्ण-हृदय मनुष्य भी, अपनी भाव-सृष्टि तथा सौंदर्य, एवं सहानुभूति के सहारे एक पूर्ण जीवन की एकता, विस्तार, एवं उसके भीतर निहित चिरन्तन सत्य का स्पर्श कर लेता है, क्योकि सुन्दर वही है, जो सत्य, और शिव हो। सौंदर्यानुभूति के इसी पुलक-स्पर्श से साहित्य का सृजन होता है। अतएव जिस साहित्य मे हृदय के राग विराग, तथा अनुराग को जागरित करने की क्षमता नही केवल तर्क की शुष्क जिज्ञासा है, वह साहित्य नही। बुद्धि का भी उपयोग साहित्य मे किया जा सकता है, किन्तु वह उसकी जननी नही। बेसिक ट्रेनिङ्ग-कालेज मे माँ-बहनो की ममतामयी स्नेहशीलता मे पढाया जाता हुआ बालक, कभी उनका अपना आत्मज नही होता, वह अपने जन्म-जात सस्कार, हृदय के एक कोने मे अपनी सारी शिक्षा-दीक्षा के साथ-साथ-छिपाये रहता है। उसीप्रकार। कला, बुद्धि की सचालन-शक्ति लेकर भी अपनी मूल-प्रेरणा, हार्दिकता को अपने मे छिपाये रखती है, क्योकि ऐसा न होने से वह कला ही न रह जायगी। समन्वय के इस सिद्धान्त को भुलाकर, साहित्य सृष्टि करने की चेष्टा, मन्दिर मे पहुँचकर आराध्य-देव की अपेक्षा इधर-उधर ककड-पत्थर टटोलने की भाति व्यर्थ साबित होगा। भारत की एक अपनी सस्कृति है, वही हमारे सद्-जीवन की खोज, आत्मा की आस्था, और सामाजिक, तथा साहित्यक-विकास की निर्देशिका है। उसकी उपेक्षा करके, दूसरे वैज्ञानिक चकाचौंध मे पनपे देशो की नकल से हम उन्नति नही कर सकते, यह सूर्य के साथ प्रकाश की भाति निश्चित, और निर्विवाद है। अपने को प्रगतिशील कहने वाला साहित्यिक, इस तथ्य का विस्मरण करके, देश के जीवन

में मृत्यु के व्याघात उत्पन्न कर रहा है। नारी विषयक अनेक कुरूप रचनायें, प्रगति के नाम से सामने आई हैं। कहना न होगा कि किसी भी जाति के जीवन, और संस्कृति के निर्माण मे, नारी की प्रकृति का कितना बड़ा श्रेय सम्मिलित रहता है। उसका स्वभाव ही सृजन, और पोषण है। प्राणि-शास्त्रज्ञों ने भी इस बात की पुष्टि की है कि नारी-निर्माण-प्रिय, तथा पुरुष विध्वंस-प्रिय होता है। जीवन सत्ता की आधार-नारी की यह कदर्थना, साहित्य की मृत्यु-लालसा के अतिरिक्त कुछ नही। ऐसे चित्र जातीय-पतन के प्रतीक हैं, इसे कोई नही इन्कार कर सकता है। आज का जीवन-दर्शन हमारा-नही विदेशो का है, इससे हमें बचना होगा। यथार्थ की ओट मे नग्न-पैशाचिकता का प्रदर्शन हमारा कल्याण नही कर सकता, क्योकि साहित्य मे चित्रित जीवन सत्य-सृष्टि के चुनाव से बनता है, उसके पोस्टमार्टम् से नही।

अस्तु, वादो-विवादों के झगड़े से दूर, जीवन-वादी-साहित्य की सर्जना हमारा चरम-उद्देश्य होना चाहिये। युगो की दासता के कारण, आत्म-सम्मान, और आत्मबल से वञ्चित होकर, यदि आज साहित्यक अपनी संस्कृति को छोड़कर, ससार के रणोन्मत्त देशो के साथ, अपना स्वर मिलाना चाहेगा तो, उसे जीवन के आनन्द, तथा अमृत के प्याले को त्यागकर, बरबस विष का प्याला पीना पड़ेगा, यह मेरी दृढ धारणा है। सर्व-कल्याण की चिरतन-मगलमयी-भावना ही भारतीय-साहित्य की सब से बड़ी देन है, इस भावना के प्रसार, और प्रचार की व्याकुलता, साहित्य का सब से उपयोगी, और सुन्दर युग-दर्शन साबित होगा इसमे सन्देह नही। भारतीय-साहित्य के प्राणो का एकत्व, समत्व और प्राणी-मात्र के प्रति ममत्व ही, उसकी सब से बडी विशेषत है। कहा भी गया है:—

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'

अस्तु, समष्टिगत व्यापक जीवन के स्वस्थ स्वाभाविक सौन्दर्य, उसकी बाहरी और भीतरी आकक्षाये और उसके विकास की समुचित समस्यायों का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन ही साहित्य की सार्थकता है। जीवन, समय और समाज को गतिशील करने वाली शक्ति भी उसे कहा जा सकता है। यही कारण है कि भारतीय आचार्यों ने साहित्य को मानवता का आत्म-दर्शन कहा है। इस आत्म-साक्षात्कार मे प्रकृति के सौन्दर्य और सामयिक जीवन की प्रगति की किसी प्रकार से उपेक्षा नहीं हो सकती क्योकि दृश्य-जगत की वास्तविकता और अन्तर्जगत की विकासोन्मुख सम्भावना से ही जीवन का निर्माण होता है। उसमे आध्यात्म और भौतिकता दोनो का सहयोग अपेक्षित है। प्रकृति के जड कणो में सुप्त जीवन भी साहित्य में उतना ही महत्व रखता है जितना चेतना से प्रतिक्षण स्पन्दित मानव-जीवन। साहित्य मे जीवन की अव्यक्त अर्ध मीलित कलियो का सम्भाव्य-सौरभ उतना ही ग्राह्य है जितना खिले हुये सुरभित वासन्ती सुमन का सुगन्धोल्लास, स्वच्छन्द विहग का स्वाभाविक कलरव।उतना ही प्रिय है जितना किसी कलाविद् द्वारा झंकृत वीणाध्वनि का संचार, क्योकि साहित्य मे जीवन की स्थापना के लिये प्रत्यक्ष तथा स्थूल सत्य एवं अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म सत्य सभी विषयो को अपनाना आवश्यक है। हमारे जीवन मे सूक्ष्म और स्थूल, हृदय और बुद्धि कल्पना और भावना की जैसी समन्वयात्मक स्थिति है वह साहित्य को केवल सूक्ष्म या केवल स्थूल मे प्रतिष्ठित नहीं होने देगी, ऐसा मेरा अपना विश्वास है। साहित्य में जीवन को स्पष्ट करने के लिये उसके भीतर तथा बाहर के सभी उपकरणो का निरीक्षण तथा परीक्षण करना पड़ेगा। जीवन की सतत् गतिशीलता का अनुसरण बिना उसकी अनन्त विविध परिस्थितियों के विश्वास के सम्भव नही हो सकता। अतएव साहित्य का सृजन बुद्धि की प्रौढ़ता और हृदय के विस्तार के सम्मेलन से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। सम्भवतः इसीलिये कहा गया है कि

किसी भी युग का साहित्य केवल अपनी इकाई में ही पिछड़ता है, समष्टि की प्रगति मे अग्रसर रहता है क्योकि वह सदैव मानव-जीवन और उससे सम्बन्धित वातावरण की सामञ्जस्य पूर्ण व्यवस्था का ही उद्देश्य सामने रखता है और कुछ नही। साहित्य के प्रति मेरा यही दृष्टिकोण है।

अन्त मे यह कह देना उचित जान पडता है कि हिन्दी के विशिष्ट आधुनिक कथाकारो की प्रतिभा-प्रवृत्तियो तथा भावधाराओ के अध्ययन की चेष्टा मैने साहित्य के उपर्युक्त दृष्टिकोण से ही की है। यथास्थान सामान्य कृतियो तथा प्रवृत्तियो का भी उल्लेख इसमे किया गया है। फिर भी यह कहना कि पुस्तक मे हिन्दी के सभी कथाकारो की कृतियो का पूर्ण विवेचन उपस्थित किया गया है, ठीक न होगा।

कथा-साहित्य की प्रतिनिधि-प्रणालियो का परिचय इसमे दिया गया है किन्तु कथाकारो की अपेक्षा कथा की मूल-चेतना के ऐतिहासिक विकास व्यवस्था का ध्यान अवश्य ही अधिक रखा गया है। स्वभावतः चुनाव मे कथाकारो की अपेक्षा विषय अनुरूपता की परितृप्ति ही प्राधान्य पा गई है। कथा-साहित्य की आधारभूत-प्रेरणाओ के प्रेमी पाठको को इसका अध्ययन अरुचिकर न होगा, यह मै जानता हूँ।

—लेखक

प्रयाग
११-२-४४

कहानी

कथा-साहित्य के आदि छोर को पकडने की इच्छा रखने वाले पाठको को, कसौटी मे खरी उतरनेवाली कहानियाँ मानवता के आदि ग्रन्थ वेदो तक मे भी मिल सकती हैं, किन्तु इस कला का परिपूर्ण विकास आधुनिक युग की देन है। आज यह साहित्य की सबसे बडी सम्पत्ति है। प्रतिदिन परिवर्धित होने वाली इस कला के विषय मे सक्षेपतः विचार कर लेना उचित ही है।

मानवता के सनातन साथी ग्रामगीतो मे जीवन और जगत का जो सहज-सरल स्वरूप सन्निहित किया गया था, वह कलागीतो में अपने स्वाभाविक रूप मे न समा सकने के कारण शायद कहानियो मे बदल गया। यद्यपि कलागीतो से जीवन की सौदर्य-ग्राहिणी शक्ति बढी, किन्तु उसकी वास्तविकता से वह कुछ दूर पडता गया—स्वभावतः जीवन-तत्त्व-हीन। कलागीतों की व्यक्तित्व-व्यवस्था ने सामूहिक व्यवस्था से पछाड़ खाई। काव्य की भाँति, तुलसी या सूर की रचना पसन्द करने का प्रश्न कहानी मे नही उठाया जा सकता—वहाँ तो सामूहिक जीवन की सत्ता रहती है, जहाँ व्यक्ति-भेद पनप ही नही पाता। विश्व-बचपन की आत्म-लीन सुकुमारता—अर्थात् काव्य—का स्वाद जैसे सभ्यता और सामूहिक चेतना के आग्रह ने कहानी की तरुणाई मे बदल दिया है। कला की कोई प्रवृत्ति जब पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है, तब उसका स्थान परिवर्तित होना आवश्यक होता है। गीतों के व्यक्तिगत सौन्दर्य-उद्घाटन ने अपने कृत्रिम आदर्श तक पहुँचकर स्वाभाविकता की स्थापना के लिये कहानियों को जगह दे दी। बाहर के प्रमाण या मापदण्ड की चिन्ता न करने वाली काव्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जब आज के वैज्ञानिक झटके को नही सहन

कर सकी, तब वाह्य जगत को अपनाने वाली कहानी सामने आई। आसक्ति अनासक्ति मे बदल गई—गीत कहानी मे और महाकाव्य उपन्यास में पुलकित हो उठे। दमयन्ती का हस, नागमती का सुआ तथा यक्ष का काव्योचित मेघदूत इस युग मे 'प्रोजैइक' बन गया। काव्य के भावुक नाबालिगो को गद्य के बौद्धिक सयानो ने पीछे हटा दिया। आज गद्य का ही युग है और कहानी उसकी सशक्त कलात्मक आभा। उच्च श्रेणी की कला का उत्पादन आज कथा-साहित्य के ही द्वारा हो रहा है, इसमे सन्देह नही।

यह युग परिभाषाओं का नही, प्रयत्नो का है, किन्तु प्रकाश की चकाचौध से ऊब कर उसकी एकदम उपेक्षा भी नही की जा सकती। अपने दृष्टिकोण की स्पष्टता के लिये कला-विषयक धारणाएँ भी आवश्यक होती हैं। कहानियो के आकार-प्रकार का सर्वमान्य सम्यक् विश्लेषण अभी तक नही हुआ, यद्यपि बीसवी सदी मे, साहित्य मे सब से मार्मिक और महत्त्वपूर्ण स्थान कहानियो का ही है। कुछ आलोचको का तो यह कहना है कि कहानी का कोई विशेष आकार-प्रकार होता ही नहीं। वेल्स का मत है कि कहानी वह चित्रण है जिसे साहस और कल्पना के साथ एक घटे से कम मे पढ़ा जा सके। दूसरे लोगो का कहना है कि किसी वस्तु या व्यक्ति विशेष के परिमार्जित एव कलापूर्ण वर्णन का ही नाम कहानी है। दार्शनिक आलोचको ने तो यहाँ तक कहा है कि कहानी वही है जो किसी सद्वस्तु, सत्तत्व, सत्सिद्धान्त या सद्व्यवहार का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हो। जो भी हो, यह सम्पूर्ण विश्व-जीवन ही एक कहानी है, सम्भवतः इसी कारण साहित्य की कहानी भी रोचक लगती है। कहानी मे अन्य कलातत्त्वो की अपेक्षा किसी चरित्र की सर्वाधिक व्यञ्जकता तथा मनोरंजकता का महत्त्व निर्विवाद है। प्रभाव कहानी का प्राण और स्वाभाविकता उसके स्वरूप की शपथ है। काव्य की कल्पना की अपेक्षा कहानी मे सामान्य जीवन की सत्यता का ही

आधिक्य रहता है। कहानी मे इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि जिस प्रकार भावना ही जीवन नही है, कल्पना ही वास्तविकता नही है, उसी प्रकार कठोर सत्य ही एकमात्र सत्ता नही है, चिन्तन ही अस्तित्व नही है। समष्टि रूप से भावना तथा चिन्तना का सयोजन, कल्पना एव सत्य का सश्लेषण और इन दोनों तत्त्वो से सम्मिश्रित तथा सुसम्बन्धित चेतना का ही नाम मानव-जीवन है। कहानी इसी जीवन की इकाई है। स्वभावतः कहानी को जीवन के भावात्मक तथा विचारात्मक दोनो छोरो को छूते हुए चलना पडता है। आत्म-अभिव्यञ्जना के साथ कहानीकार को दूसरे की भावनाओं का भी उल्लेख करना पडता है, क्योकि अपने मनोभावो की तुष्टि व्यक्ति, काव्य तथा अपने प्रियजनो एवं पुरजनो के बीच मे भी पा सकता है, किन्तु दूसरे के मनोभावो तथा प्रवृत्तियो का परिचय देने की उत्सुकता ही उसे कहानी की ओर प्रेरित करती है। मानव की परोपेक्षित प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति—व्याकुलता—ही कथा-साहित्य की सृजन-सूचना है। अपनी कहने और दूसरे की सुनने की रुचि ही कथा-साहित्य के जन्म का कारण है।

ससार का सम्पूर्ण ज्ञान स्वयम् से ही प्रारम्भ होता है। इस स्वयम् की स्थिति समाज और ससार के बीच मे होती है। इसी कारण मनुष्य वाह्य जगत मे अपने अन्तर्जगत के समान या असमान, अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी देखता है उससे उसके हृदय में एक क्रान्ति का सचार होता है और वह उसकी अभिव्यक्ति के लिये आतुर हो उठता है। उसके जीवन के क्रियाकलाप उसके भावों की गतिविधि की सूचना देने लगते हैं। मनुष्य का जीवन कभी एक सीधी रेखा की गति से नही गुजरता। उस पर जीवन और जगत के नाना व्यापारो के घात-प्रतिघात होते रहते हैं जो उसकी गति को अव्यवस्थित करते रहते हैं। शायद सरल रेखा की गति से चलने पर जीवन की विशिष्टता भी न रह जाती क्योंकि भावो के उत्थान-पतन का अभाव जीवन का नही, मृत्यु का

लक्षण हैं। भावो के अन्तर्द्वन्द्व से जीवन, शक्ति और साहस का चयन करता है। साहित्यकार भावो के इस अन्तर्विरोध का साधनात्मक समन्वय करना जानता है, क्योकि भावो के स्वाभाविक परिवर्तन और गति-क्रम को दिखाना कला का उच्चतम आदर्श है। कहना न होगा कि हृदय में भावो के जो भिन्न-भिन्न वृत्ति-चक्र हैं वे सब, समस्त मानव-सृष्टि में न्यूनाधिक रूप से एक ही प्रकार के उपकरणो से निर्मित हैं। यदि दुख, दुख है, सुख, सुख, तो इनमे धनी और गरीब का भेद मिट जाता है। सीताहरण पर राम का विलाप एक सामान्य पुरुष का विलाप है, किसी राजकुमार का नही। मदन-दहन के पश्चात् रति का रुदन एक सामान्य स्त्री का ही रुदन है। कहने का तात्पर्य यह कि भावो की सत्ता मे व्यक्तित्व की विशेषताएँ प्रायः समाहित हो जाती हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं। एक सामान्य और दूसरे उद्दीप्त। उद्दीप्त या तीव्र भावो को मनोवेग या राग कहते हैं। राग किसी न किसी आधार की अपेक्षा रखता है। सामान्य भाव, इद्रिय जनित और सीमित होते हैं, किन्तु रागात्मक भाव अधिक तीव्र तथा व्यापक होते हैं। साहित्य में इन्ही रागात्मक भावो की मान्यता होती है। व्यक्ति, जीवन और जगत के संयोजित प्रभाव—राग से ही कहानी कला का निर्माण होता है। भाव-विज्ञान की इस अन्विति का पूर्ण निर्वाह केवल कथा-साहित्य मे ही सम्भव है, अन्यत्र नही। राग के आधार को जानने की इच्छा, इच्छा से ज्ञान तथा ज्ञान से कर्म की प्रेरणा पाता हुआ कथाकार अपने निश्चित पथ का अनुसरण करता है।

वाह्य जगत और अन्तर्जगत के तारतम्य मे एक सौन्दर्य है। यह सत्य है कि जो वाह्य है वह अतः नही, किन्तु दोनो एक दूसरे से प्रभावित अवश्य होते हैं। वाह्य जगत के सौन्दर्य का उपभोग तो सभी करते हैं, किन्तु अन्तर्प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग केवल कलाकार ही कर सकता है। जीवन के वाहर का सौन्दर्य उसके भीतर के माधुर्य का पोषण करता

आधुनिक

है और जीवन के भीतर का सौन्दर्य उसकी अभिव्यक्ति को उद्दीप्त कर देता है। यही कारण है कि कहानीकार कवि की भाँति केवल रूप-सौन्दर्य पर ही मुग्ध नही हो जाता, वरन् वह गुण-सौन्दर्य का भी चित्रण करता है। वह उपवन में खिले फूल को कवि की सौन्दर्य-प्रियता और वैज्ञानिक की विवेचन-प्रियता की सम्मिलित दृष्टि से देखता है। उसका क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। यह सच है कि केवल तर्क और बुद्धि-वृत्ति के अनुसार मनुष्य अपना जीवन नही चला सकता। उसके प्रत्येक कर्म के मूल मे किसी न किसी प्रकार का भाव अवश्य छिपा रहता है, क्योकि भाव स्वतः प्रत्यक्ष नही हो सकता, वह कर्म के रूप मे ही अपनी उपस्थिति देता है। सम्भवतः इसीलिये मनुष्य की कोई भी क्रिया तब तक कर्म नही मानी जाती जब तक उसमे उसकी इच्छा का योग न पाया जाय। कहानी मे जब तक भाव से कर्म का योग नही होता तब तक वह अपनी सार्थकता की सीमा में प्रवेश नही कर पाती। व्यक्ति के प्रत्येक प्रेरक भाव के विवेचन तथा विश्लेषण से उसके जीवन की क्रियाओं का रहस्य प्रकट हो जाता है, इसे कौन नही जानता? इच्छापूर्वक सहेतुक कर्म नियोजन ही कलाकर की सब से बडी साधना है। महत्ता, महदिच्छा ही का दूसरा नाम है। वास्तव मे जगत के किसी भी प्राणी या पदार्थ मे जब तक अपनी सत्ता का कोई चिह्न न मालूम हो तब तक उसको प्राप्त करने, उसके सरक्षण या उसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार का भी भाव हृदय मे नही उत्पन्न होता? इसलिये कहानीकार को जीवन और जगत के प्रति सदैव एक समवेदनात्मक दृष्टि-कोण रखना आवश्यक हो जाता है। यही वह कवि से आगे बढ जाता है, क्योंकि कवि सौन्दर्य-प्रेमी होता है और कहानीकार स्थिति-प्रेमी। जीवन में स्वार्थ, परार्थ तथा परमार्थ तीनो की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ हैं। स्वार्थ के बिना व्यक्ति का जीवन सम्भव नही है, परार्थ के बिना समाज-विधान का अस्तित्व नही है और परमार्थ के अभाव मे लोक-कल्याण की भावना का विकास नहीं हो सकता। जीवन के पोषण, वर्द्धन

तथा विकास के सभी उपादन प्रत्येक व्यक्ति के पास हृदय-वृत्तियो के रूप मे उपस्थित हैं। कहानीकार इन वृत्तियों के सम्यक् समन्वय से जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति मे सहयोग देता है। जहाँ अन्य प्रकार की कला भावो को क्रिया का रूप न दे सकने के कारण आशा-आकांक्षा की उलझन मे फँस कर बौद्धिक चेतना के घेरे मे निष्क्रिय तथा कल्पनाशील बन जाती है वहाँ कहानी, भाव और कर्म की योग-चेतना से संचालित होकर बराबर गतिशील बनी रहती है। काल्पनिक भावुकता और वास्तविक भावुकता मे यही अन्तर होता है। जीवन और जगत के प्रति उदार भावना से हीन, अपने अहम् मे लीन अतःसाधना मनुष्य की चित्त-वृत्ति को तृप्त नही कर सकती, उसे फुसलाकर एक दूसरे स्तर पर अवश्य पहुँचा सकती है। साहित्य के हेतु जब गौण हो जाते हैं या निर्बल पड जाते हैं तब बहुधा 'कला कला के लिये' की पुकार होती है। साहित्य के हेतु को नियमित तथा निश्चित रखने और जीवन एवं जगत के साथ उसे सम्बन्धित करने के लिये ही आज कहानी ने साहित्य मे उच्चतम स्थान पाया है। चराचर सृष्टि के साथ मानव-जीवन को सहानुभूति के सूत्र से बाँधकर सामूहिक जीवन के किसी मार्मिक स्तर का उद्घाटन ही कहानी कला की चरम परिणति है। शायद अर्नल्ड बेनेट ने इसीलिये कहा है—"कथाकार वही है जो जीवन देखकर इस तरह प्रभावित है कि अपने जीवन-दर्शन को व्यक्त करने के लिये कथा का ही माध्यम चुनता है, क्योकि इसी के द्वारा वह अपनी सवेदनाएँ व्यक्त कर सकता है। सामूहिक जीवन से प्रभावित अपने मनोभावो को आपस मे प्रकट करने की आवश्यकता से ही अपने आस-पास की समस्त वस्तुओ के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा की उद्भावना होती है, कहानी इसके उद्घाटन का सर्वोच्च साधन है"।

हिन्दी मे कहानी-साहित्य का युग 'रानी केतकी की कहानी' से प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु काल ने अनुवादो के द्वारा अपना विकास

पाया। अंग्रेजी की छोटी भाव-व्यञ्जक कहानियो ने बंग-भूमि में कहानियों की अवतारणा की और वहाँ से हिन्दी को प्रेरणा मिली। यह ठीक है कि नये ढग की कहानियो का बीज हिन्दी मे बगाली साहित्यको की कृतियो से ही आया। प० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी सम्भवतः इस ओर का प्रथम मौलिक प्रयास है। प० माधव प्रसाद मिश्र ने भी कुछ मौलिक कहानियाँ उसी समय लिखी थी। लाला पारवतीनन्दन के नाम से इण्डियन प्रेस के मैनेजर बाबू गिरिजा-कुमार घोष ने अंग्रेजी की अनेक कहानियो का भावानुवाद किया और कहानियों की ओर जनता की रुचि बढाने मे सहायता की। जनता की रुचि तो बढी किन्तु मौलिक कहानियो के अभाव ने उसे सतोष नही दिया। हिन्दी कथा-साहित्य के प्रारम्भिक काल मे 'बंग-महिला' की सेवाएँ सराहनीय हैं। १६०७ की सरस्वती मे 'दुलाईवाली' सर्वथा मौलिक कहानी प्रकाशित हुई। इसी समय के आस-पास श्री भगवान-दास, श्री रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री गिरिजादत्त की कहानियाँ भी सामने आई। उस समय तक कहानियों का उद्देश्य केवल मनोरजन था। कल्पना के सहारे लेखक जनता की भावनाओं को स्फूर्ति देना ही अपना सबसे बडा काम समझते थे। क्रमशः मनमोदकों से भूख न मिटने की बात स्पष्ट हो गई और कल्पना का स्थान वास्तविकता ने ले लिया। वास्तविकता के साथ-साथ नवीन भावो के चित्रण की भी वृद्धि हुई और जीवन के प्रत्येक स्वरूप का चित्रण कहानियों मे होने लगा।

१६११ मे श्री जयशकर प्रसाद की एक कहानी 'इन्दु' मे 'ग्राम' नाम की प्रकाशित हुई। उसके बाद श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्री चतुरसेन शास्त्री आदि का अभ्युदय हुआ। इस युग के प्रथम लेखक श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' की कहानियाँ मानवीय भावनाओ के घात-प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द्व-भावात्मक सघर्ष से अपना स्वरूप पाती हैं। इनकी प्रायः प्रत्येक कहानी के प्राण करुणा

और सहानुभूति से सिंचित हैं। राग-द्वेष, क्षमा, घृणा, क्रोध तथा प्रेम सभी की चरम परिणति करुणा मे होती है—सम्भवतः बौद्ध इतिहास और बौद्ध साहित्य के अध्ययन का यही परिणाम होता है। उनकी कथाओ का मूल आधार भावुकता है, और उनकी शैली भाव प्रधान है। जीवन के कोमल और कठोर पक्षो के समन्वय मे वे अद्वितीय है। कौशिक जी की कहानियाँ किसी न किसी उद्देश्य को लेकर चलती हैं। वार्तालाप-प्रधान होना उनकी अपनी विशेषता है। सामान्य जीवन की परिवारिक परिस्थियो के प्रकाशन मे कौशिक जी की खासी गति है। गुलेरी जी ने बहुत कम कहानियाँ लिखी, किन्तु उनकी कहानियाँ कहानी कला के गुणों से ओत-प्रोत हैं। उनकी 'उसने कहा था' कहानी हिन्दी मे बेजोड मानी जाती है, यह बात दूसरी है कि मै स्वय ऐसा नही मानता। शास्त्री जी भाषा कौशल मे ही अटके रहे। यद्यपि परिमाण में उन्होने बहुत लिखा, परन्तु कहानीकार की हैसियत से उनके लिये केवल यही कहा जा सकता है कि "मच पेपर एन्ड पॉवर्टी मे गो टुगेदर"। अर्थात् "अधिक कागज और निर्धनता दोनो के साथ-साथ चलने की सभावना रहती है"।

सन् १६१६ का वर्ष हिन्दी कहानी-साहित्य मे एक अपूर्व परिवर्तन की सूचना है। इस वर्ष नवाबराय के उपनाम से उर्दू मे कहानियाँ लिखने वाले प्रेमचन्द ने हिन्दी मे प्रवेश किया। इनका हिन्दी में आना एक नये युग की सूचना है। कल्पना और आदर्श से आबद्ध-वातावरण ने इनके हाथो से मुक्ति पाई। प्रेमचन्द भारतीय मूक जनता के लेखक हैं। जनता के जीवन की विभिन्न परिस्थितियो के उपादान से उन्होने अपनी कथा- प्रतिभा तैयार की, जो जीवन के प्रत्येक अग का प्रतिनिधित्व करती है। समाज के जिन-जिन विशेष स्तरो पर प्रेमचन्द ने अपनी प्रतिभा का प्रकाश डाला है वह हमारे सामाजिक जीवन का रहस्य सरल और स्पष्ट बनाने मे सहायक है। भारतीय जीवन

की सामूहिक और सामयिक परिस्थितियों के चित्रण मे वे अन्यतम हैं।'
उनकी कला ने इसी दिशा में अपना चरम विकास पाया है, अन्य क्षेत्रो में वह इतने सफल नही हैं। प्रेमचन्द की कहानियों का पहला आकर्षण कहानी है, उन्हें केवल कथा के आनन्द के लिये भी पढा जा सकता है। यही कारण है कि समाज-सुधारक प्रेमचन्द से कलाकार प्रेमचन्द किसी तरह कम नही हैं। प्रेमचन्द, कहानियो में प्रायः एक ही प्रधान घटना का आयोजन करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि कथानक की गति के साथ पाठक का मस्तिष्क भी प्रवाहित होता जाता है और समय की इस एकता का पूर्ण प्रभाव प्राप्त करने मे वह सफल होता है। उनकी सभी कहानियो का प्रभाव सधा हुआ और सुगठित होता है। शिक्षा और बुद्धि-विकास की स्थिति से दूर, बूढे बाबा ईश्वर के नाम पर चुपचाप जीवन की नारकीय यातनाओ के सहने वाले सरल-हृदय मानवो की आत्मीयता प्रेमचन्द की कहानियो की सबसे बडी विशेषता है। इसका आशय यह नही कि प्रेमचन्द ने जो कुछ भी लिखा सब उच्चकोटि का है। कभी-कभी तो उन्होंने अपने सुधारक के विचारो को कला की अलगनी में इस प्रकार लटकाया है कि कला लडखडाने लगी है। उनके उपन्यास इस बात के उदाहरण हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासो की सख्या भी करीब एक दर्जन है, किन्तु उपन्यासकार की हैसियत से वे उतने सफल नही हैं जितने कहानीकार के रूप मे। उनके उपन्यासो का वातावरण अधिकाशतः भारत के ग्रामो का है। वे भारत की उस जनता की कथा के चित्रकार हैं जो अपनी हृदय-ज्वाला को, लाचार गरीबी और निःसहाय वेदना को कभी वाणी नही दे सकी, जिनके अनेक भावों का उत्थान-पतन आजीवन होठो पर ही आकर मिट गया, जिनकी निर्जीव निश्वासे चिता की लपटों के साथ ही बाहर निकली और जिनकी मार्मिक वेदना आँखो के कोनों मे ही सूख गई। दूसरे शब्दों मे प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो मे महात्मा गांधी के राष्ट्र-जागरण

और सुधार-आह्वान का सजीवन संदेश दिया है, जिसके कारण प्रथम दृष्टि में विश्वजनीन भावो का उनमे अभाव सा मालूम होने लगता है। राष्ट्र विशेष की भावाभिव्यक्तियाँ अपनी सीमा में विश्व राष्ट्र को नहीं समेट पाती, यह स्वाभाविक है। पर वास्तव मे उनकी कहानियो में यह बात नही है, क्योंकि उनकी कहानियाँ मानवीय सस्कृति मे जो सत्य, शिव और सुन्दर है, समष्टि रूप से मानवता का जो मन, प्राण, जीवन और चेतना है उन सब को अपनी ममता से, आलिङ्गन में आबद्ध किये हुए हैं। कहानियो मे प्रेमचन्द की विचारधारा समस्त प्राकृत-मानव-भावना मे परिव्याप्त है और इसी का नाम कला की साधना है। वह उच्चकोटि के कहानीकार है, यह निर्विवाद है।

प्रेमचन्द की साहित्य-साधना के समय उत्साही नवयुवको का एक दल कथा-साहित्य के गगनागन मे प्रदीप्त नक्षत्रो की भाँति प्रज्वलित हो उठा था। सर्वश्री सुदर्शन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा शिवपूजन सहाय आदि के नाम उल्लेखनीय है। सुदर्शन की कहानियो का, उद्गम-स्थान वही है जो प्रेमचन्द की कहानियो का, किन्तु आगे चल कर वह एक उपदेशक तथा प्रचारक का रूप धारण कर लेते है। अन्त मे उन्हे अपनी सूझ और स्वभाव से फिल्म का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ा, क्योकि वहाँ कला की आवश्यकता उतनी नही होती जितनी प्रचार प्रदर्शन की। बख्शीजी ने कुछ भावात्मक कहानियो के लिखने के बाद मौन को ही अपना अलकार मान लिया। इस प्रकार इस सदी की तीसरी दशाब्दि के प्रारम्भ मे कथा की अपेक्षा हिन्दी मे काव्य-चर्चा का ही प्राधान्य था।

पिछले महायुद्ध के बाद विश्व-जीवन की भावधारा के आमूल परिवर्तन से भारत भी तटस्थ न रह सका और साहित्य में जीवन की स्थापना के लिये कहानियों का प्रचार बहुत वेग से आगे बढ़ चला।

आधुनिक

१६२० के पश्चात् बहुत से नवीन कहानी-लेखको का अवतरण हुआ। सर्व श्री मोहनलाल नेहरू, भगवती प्रसाद वाजपेयी, बेचन शर्मा उग्र, विनोदशङ्कर व्यास, वाचस्पति पाठक, जैनेन्द्रकुमार तथा इलाचन्द्र जोशी के नाम लिये जा सकते है। मोहनलाल नेहरू ने समाज-सुधार के उद्वेग से कुछ कहानियाँ लिखी थी, पर वे उसके आगे न बढ़ सके। भगवती प्रसाद वाजपेयी हिन्दी में काफी कहानियाँ लिख चुके है। इनके जीवन और शिक्षा-दीक्षा की स्थिति का ध्यान रखते हुए यह मानना पड़ेगा कि साहित्य-सेवा की ओर इनकी लगन सात्विक है। वाजपेयी जी के साहित्य मे प्रतिभा से अधिक लगन का ही आभास मिलता है। प्रेमचन्द के बाद इस क्षेत्र मे आकर वे कहानी-कला की प्रगति मे यद्यपि किसी नूतन प्रेरणा का प्रादुर्भाव नही कर सके, किसी अभिनव चेतना का सचार नही कर सके, तथापि अपनी अलग ज्योति का प्रकाश फैलाने वाले तारको मे वे अवश्य ही सम्मान्य है। आज कृतियो की सख्या मे वे प्रेमचन्द के ही समकक्ष है। अभी उनकी प्रगति जारी है, अतएव उनके उचित स्थान का निर्धारण दूर भविष्य के ही हाथो से सम्भव होगा। यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि यदि वाजपेयी जी अपनी भावुकता के कारण भावो की ऊँचाई का प्रयोग अपने व्यक्ति (अहम्) के प्रयोजन से परे रख सके तो वे कथा-साहित्य की अधिक सेवा कर सकेगे। उग्र, जैनेन्द्रकुमार तथा इलाचन्द्र जोशी ने अवश्य ही कहानी साहित्य मे क्राति लाने का प्रयत्न किया है। इनकी कहानियो मे जीवन की नवीन गति तथा दिशा की सूचना मिलती है, जो पिछले सभी कहानीकारो से भिन्न अपनी एक विशेष सत्ता रखती है। उग्र जी हिन्दी साहित्य मे एक उल्कापात की भॉति आकर विलीन हो गए, किन्तु यथार्थ का जैसा सचित्र तथा सजीव स्वरूप उनकी कृतियो मे मिलता है, वह किसी भी पाश्चात्य यथार्थवादी कथाकार से किसी प्रकार कम नही है। जब कलाकार जीवन के यथार्थ

की कुरूपता में रस लेने लगता है तब उसकी प्रतिभा पराजित हो जाती है, क्योकि—अपने मधु में लिपटा भ्रमर गुञ्जन नही कर सकता। गुञ्जन के लिये तटस्थता आवश्यक है। काश कि उग्र जी ने सोचा होता कि यथार्थ के आग्रह का आशय यह नही कि जीवन के आदर्श की एकदम उपेक्षा कर दी जाय। जो भी हो, उग्रजी की प्रतिभा और लेखनी की शक्ति का हिन्दी साहित्य अब भी कायल है। जैनेन्द्र जी की कहानियों मे हृदय-द्वन्द्व की जो सूक्ष्मता तथा मनोवैज्ञानिक प्रगल्भता मिलती है, वह आज भी उनकी अपनी चीज है। अन्तस्तल के उद्वेलित तरंगाकुल प्रदेश का ऐसा चित्रण कम ही मिलता है। जैनेन्द्र जी के दर्शन की सघनता और जटिलता एवं कथोचित भावुक-कल्पना के अभाव ने उनके कथा-साहित्य को बौद्धिक शुष्कता से जकड़ दिया है। स्वभावतः उनके कथा—प्रवाह मे ऊबड़खाबडपन आ गया है। उनका अनावश्यक विस्तार-प्रेम कभी कभी प्राणो को उबा देता है। जैनेन्द्र की कहानियो मे हम हृदय की अनुभूति और सहानुभूति की अपेक्षा चिन्तन की चैतन्यता अधिक पाते है, कहानियो के लिये यह बहुत उपयुक्त नही होती। अभिव्यक्ति एक प्रकार का ऐश्वर्य है, किन्तु जैनेन्द्र की दार्शनिक प्रवृत्ति उनके जीवन-अनुभवो के संग्रह को दीन बना देती है। वे अनुभव तो करते हैं, किन्तु उसे उस रूप मे अभिव्यक्त नही कर पाते। फिर भी भावो की सचाई उनकी सब से बड़ी विशेषता है। कथा-साहित्य मे जोशी जी की एक विशेष भाव-धारा है। उनकी कहानियों मे मनोभावो का सूक्ष्मतम तरगाभिघात एव जीवन के मूल तत्त्वो का विश्लेषण तथा विवेचन, हिन्दी कथा-साहित्य मे अपनी जगह अकेला है। यदि सच पूछा जाय तो जीवन के वाह्य तथा अन्तर के भाव-प्रतिभावों का तुमुल सघर्ष और उनका सामञ्जस्य जोशी जी की, साहित्य को सबसे वडी देन है। पर उनकी कला की यह विशेषता कहानियो के परिमित क्षेत्र में अपना पूर्ण विकाश नही पाती, क्योंकि

आधुनिक

उसका क्षेत्र सीमित होता है। इसीकारण जोशी जी उपन्यासकार के रूप मे अधिक सफल सिद्ध हो रहे है।

सन् १६२८-२६ के पश्चात् साहित्य मे कहानियो की महत्ता सर्वाधिक स्वीकार कर ली गई। शायद हम लोगो ने यह जान लिया कि विश्व का सब से बडा साहित्यिक पुरस्कार कथा-साहित्य को ही अनेक बार दिया गया है, यद्यपि हिन्दी का मगलाप्रसाद पुरस्कार आज तक इस चेतना से दूर ही है। यहाँ पहुँचकर हम देखते हैं कि प्रायः सभी साहित्यिको ने कथा को अपनाने की चेष्टा की—और तो और, कवियो ने भी इस ओर ध्यान देना शुरू कर दिया। निराला, सियारामशरण गुप्त, पन्त, भगवतीचरण वर्मा आदि का इधर आना इस बात का साक्षी है। इसी समय अन्य गद्य लेखको ने भी कहानी लिखने का प्रयत्न किया। श्रीनाथसिह, सद्गुरुशरण अवस्थी तथा श्रीराम शर्मा का नाम लिया जा सकता है। निराला की कहानियो मे काव्योचित भावुकता तथा परिहासात्मक व्यग की बहुलता रहती है, क्योकि निराला कवि पहले तथा कहानीकार बाद मे हैं। 'बिल्लेसुर बकरिहा, उनकी एक प्रौढ और प्रगतिशील रचना है। सियारामशरण की कहानियो मे भारतीय जीवन की प्रधान प्रवृत्तियो का उन्मेष तो है, किन्तु जीवन की विविधता की पकड उनमे नही है। पन्त के साहित्य का क्षेत्र ही कल्पना-प्रधान है। उनकी कल्पना की कोमलता ने कथा-साहित्य के ठोस वातावरण में अपना विस्तार नही पाया। ठीक भी है—'सिरस सुमन किमि बेधिय हीरा'। भगवतीचरण वर्मा प्रारम्भ से ही एक उथले विद्रोह के उद्भावक हैं। उनकी कहानियो मे जीवन की वह ज्वाला है जो जलाने के साथ-साथ कुछ प्रकाशभी देती है। मास में मिर्च के तीखेपन की तरह लोगो को उनकी कहानियाँ पसंद आती हैं। श्रीनाथसिह की अनेक कहानियो मे अच्छी-बुरी सभी तरह की कहानियाँ हैं।

कथासाहित्य

आधुनिकतम कहानीकारो में कुछ ने बहुत सुन्दर कहानियाँ लिखने में पर्याप्त सफलता पाई है। वीरेश्वर, रायपुरी, अज्ञेय, पहाड़ी, यशपाल, ब्रजमोहन गुप्त उषादेवी मित्रा, सुशीला आगा और चन्द्रकिरण सौनरिक्सा इनमे प्रमुख है। सुमित्रा-कुमारी सिनहा की कहानियो में जीवन की दिशा का उतना निर्देश नही जितना उसकी नग्नता का निरूपण है। इन लेखको से अज्ञेय की प्रतिभा अलग है। पुराण-पथी और सामाजिक रूढियों के मूलोच्छेदन का स्वर इनकी कहानियो का केन्द्र-बिन्दु सा मालूम पड़ता है। लेखक की कृत्रिम क्रान्ति की कर्कशता मे रमणीयता का स्वर कुछ दब जाता है और कही कही तो पूरा वातावरण भी विदेशी सा लगने लगता है, किन्तु इनकी कहानियो की प्रेरणा कलात्मक होती है, इसमे सन्देह नही है। नवयुवक कहानीकारो मे 'पहाडी' का विशेष स्थान है। 'सस्पेन्स' की सुन्दर आभा और कथानक की रोचकता पहाडी की कहानियो मे बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है, इनकी भाषा कभी-कभी अस्वाभाविक प्रान्तीयता का पाल सँभालने मे पड जाती है। यो पहाड़ी मे प्रतिभा और जागरूकता की कमी नही है। यशपाल की कहानियाँ श्रमजीवियो की बौद्धिक ममता से ओत-प्रोत हैं। यदि इस प्रवृत्ति को वे अपनी संवेदना से सप्राण कर सके तो उनकी कहानियो की महत्ता की सम्भावनाएँ सहज ही साकार हो उठेगी।

हिन्दी का कहानी साहित्य उत्तरोत्तर वृद्धि करता जा रहा है, यह बहुत ही शुभ लक्षण है। भारत के साहित्य मे स्त्रियो का अधिक सहयोग कभी नही रहा। यद्यपि छायायुग को अवश्य ही कुछ देवियो ने अपनी उदार करुणामयी सहानुभूति दी थी, किन्तु आज कहानी क्षेत्र मे अनेक महिलाएँ आगे बढ रही हैं। सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियो का घरेलू वातावरण हिन्दी की मूल्यवान निधि है। तेजरानी पाठक, कमलादेवी चौधरी, होमवती, सत्यवती मलिक आदि लेखिकाएँ कहानी-साहित्य की अच्छी सेवा कर रही हैं। काव्य की भाँति

आधुनिक

'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखाये' द्वारा महादेवी वर्मा ने कथा-साहित्य को कुछ नये सुन्दर स्वर दिये हैं। समाज के पीड़ित, उपेक्षित वर्ग के प्रति ममता का जो स्वरूप उनके ससमरणो (कहानियो) मे पाया जाता है वह शरद् को छोडकर कही अन्यत्र नही मिल सकता। कहानियों मे प्रगति का सच्चा स्वरूप उपस्थित करने का श्रेय श्रीमती वर्मा को ही है। इसके पहले कहानीकारो ने निम्न वर्ग के इन प्राणियों को अपने साहित्य मे, इस रूप मे नही अपनाया था। जीवन का यह कठोर सत्य उनकी कविता मे स्थान न पा सकने के कारण यदि ससमरणो के रूप मे सामने आ गया तो कुछ आश्चर्य की बात नही। 'नीव की ईट' की लेखिका चन्द्रावती ने कुछ सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं, जिनमे स्त्री-हृदय के वात्सल्य का समुचित निदर्शन और ससार के प्रति एक सहानुभूतिमय दृष्टिकोण का सारगर्भित स्पष्टीकरण है।

इसी प्रकार अन्य बहुत से लेखक एव लेखिकाएँ अपना सहयोग कथा-साहित्य को देने मे दत्तचित्त हैं। मध्ययुग मे काव्य की भाँति आधुनिक युग मे कहानी-साहित्य का ही नाम साहित्य पड़ गया है। बहुत दिन के बाद हिन्दी मे जीवनमय साहित्य का यह प्रथम प्रारम्भ है, इसे स्मरण रखना होगा।

उपन्यास

सस्कृति, सभ्यता और साहित्य एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाये हैं, जो विविध आकार-प्रकार के साथ विविध दिशाओ मे फैली होती हैं। इनकी उत्पत्ति, विकास और दिशा की कारणभूत इकाई का आधार वृक्ष ही होता है—और यह वृक्ष है जीवन। जीवन-वृत के अकुरो से इन शाखाओ का स्वरूप बनता है। मातृ-वृक्ष की भाँति जीवन-वृ त से रस की धार उद्भूत होती है, उसी रस से इन शाखाओ के अग विकसित और परिवर्धित होते हैं। अतएव सस्कृति के कर्णधार का, सभ्यता के शिल्पी का और साहित्य-निर्माता का सब से पहला और आवश्यक अन्वेषणीय तत्व जीवन है। जीवन की गॉठ-गॉठ मे सन्निहित सत्य को, उसकी गति मे पग-पग पर विजडित परिवर्तन को तथा इन दोनो के विरोधाभासी सघर्ष को आत्म-सयम से पर्यवेक्षण करना ही कलाकार का मूल ज्ञेय है।

कला मूक उदासीनता की पाषाण प्रतिमा नही है। वह तो जीवन-स्फूर्ति से अनुप्राणित, अनुभूति से आकुल और विकास-अभिलाषा से आतुर सौन्दर्यशील एक बॅधी कुसुम-कली है, जो चेतना से सचालित और भावना से स्पन्दित, जीवन के साथ साथ गतिशील रहती है। जीवन और जगत के समवेदनीय स्पर्श से इसे अभिव्यक्ति का वरदान मिलता है, जिसे हम कला के नाम से जानते है। अभिव्यक्ति और प्रयास-प्रदर्शन मे ही कला की साध निहित रहती है। जीवन के परिज्ञान और पर्यवेक्षण के पश्चात् कलाकार का हृदय इस घनीभूत प्रभाव-पुंज को अपनी अभिव्यक्ति-द्वार-साकार स्वरूप देने को उत्सुक हो उठता है। साहित्य-क्षेत्र मे नाटक, महाकाव्य तथा

आधुनिक

उन्पयास ही ऐसे उपकरण हैं जहाँ सामूहिक मानव-जीवन अपनी समस्त भावनाओ एवं चिन्तनाओं के साथ सम्पूर्ण रूप मे अभिव्यक्त हो सकता है।

अभिव्यक्ति की उपर्युक्त तीन प्रणालियो में उपन्यास आधुनिकतम हैं, और अधिक प्राकृतिक तथा सहज-सरल भी। नाटक मे पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये नाट्य-कला सम्बन्धी अन्य अनेक उपादानो की आवश्यकता पडती है, महाकाव्य मे जीवन-अनुभूति के सम्पूर्ण चित्र, विना काव्यागो के पूर्ण ज्ञान के नही ग्रहण किये जा सकते क्योकि वे न तो इतने प्राकृत होते और न उनकी अपील ही इतनी सीधी होती। महाकाव्य की अनेक अनुभूतियाँ केवल कलाकार के लिये स्वसवेद्य बन कर रह जाती हैं किन्तु उपन्यास सदैव पर-सवेद्य होता है। उपन्यास यदि खोद कर बनाया गया एक जलाशय है तो महाकाव्य एक स्वतस्फूर्त झरना। सम्भवतः आवश्यकता के अत्याचार के सामने नतमस्तक होना काव्यकार अपनी हीनता समझेगा किन्तु उपन्यासकार उसे अपनी सहन-शीलता के अतिरिक्त और कुछ नही मान सकता।

कवि, गीत-धर्मी होने के कारण व्यक्ति स्वातन्त्र्य का उपासक होता है किन्तु उपन्यासकार बाहर के सामाजिक-बोध की अधिक चिन्ता करता है। कभी कभी कवि की बुद्धि और उसकी अनुभूति मे संघर्ष भी सम्भव है परन्तु बुद्धि और अनुभूति का, व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समाज-बोध का समन्वय उपन्यासकार की साधना का सब से बड़ा सुख है। कवि का जीवन आत्मनिष्ठ होता है और वह अपनी इस भाव परम्परा के आवेश मे भूल जाता है कि वह समाज-जीवन का एक अश मात्र है। बौद्धिक निरीक्षणो और वैज्ञानिक अनुसन्धानो से उपन्यासकार इस बात को जानता है कि व्यक्तिचेतना वास्तव मे समाज-चेतना से अपना अलग अस्तित्व नही रख सकती, अतएव वह अपनी व्यक्ति-चेतना को सदैव समाज-चेतना की सम्पूर्णता, विशाल वास्तविकता की ओर खीच ले जाने की चेष्टा करता

है जहाँ कवि व्यक्तिसत्ता और समाज-सत्ता के द्वन्द्व में उलझ जाता है वहाँ उपन्यासकार समाज-सत्ता को स्वीकार करके आगे बढ़ जाता है। समाज-बोध को भुलावा देकर कवि का अनुभूतिमय साधक अथवा रहस्यवादी बनना आवश्यक हो जाता है और उपन्यासकार सामूहिक और बृहत्तर जीवन सत्ता को स्वीकार करता हुआ जीवनवादी हो उठता है। आधुनिक युग. व्यक्ति स्वातन्त्र्य की सीमा को पार कर मानव-महा-समाज के स्वातन्त्र्य का पक्षपाती हो गया है, कवि जैसे उपन्यासकार बन गया है। यही कारण है कि आज कल महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास का महत्व अधिक बढ़ गया है। व्यक्ति-बोध ने विश्व-बोध का रूप धारण कर लिया है।

अपने आराध्य के प्रति आकर्षण न रखने वाले के प्रति महाकवि तुलसी की भाँति आज कोई सूकर, श्वान का प्रयोग नही करता क्योंकि आज के साहित्यकार का, संसार की विविधता विषयक परिज्ञान बहुत आगे बढ गया है। आज का साहित्यिक केवल कल्पना लोक मे विचरण नही करता वरन् वह अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं की वास्तविकताओं के प्रति भी सजग और सचेष्ट रहता है। साहित्य और समाज के बीच का कृत्रिम व्यवधान प्रतिदिन क्षीण पडता जाता है और लोग अब, साहित्य का भी सामाजिक मूल्यॉकन करने लगे हैं। साहित्य तो जीवन की व्याख्या है और जीवन किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेप का न होकर विश्व-व्यापक होता है। इसलिये साहित्यकार को अपनी कृतियों का आधार और उपादान जीवन को ही बनाना पडता है। साहित्य-सृजन की मूल-प्रेरणा जीवन से ही मिलती है, इसके बाहर उसका कोई कही अस्तित्व नही है। इसमे सन्देह नही कि कथासाहित्य ने इस ओर अपना कदम बढाया है।

कथा की सृष्टि बुद्धि और भावना के योग से होती है, अतएव जीवन की स्थूल तथा सूक्ष्म वृत्तियो की सगति और सामञ्जस्य का

यह सब से सुन्दर और स्वस्थ साहित्यिक माध्यम है। इसमें जीवन के किसी अश की उपेक्षा नही की जा सकती क्योकि यह सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति है। साहित्य के अन्य अगों मे हमे जीवन की पूर्णता न मिलकर उसके चित्र की रंगीनता ही अधिक मिलती है, परन्तु चित्र तो वस्तु की वाह्य रेखाओ की सीमा से सीमित होता है, यह कहने की आवश्यकता नही। जो कुछ प्रत्यक्ष है, स्थूल है वही जीवन नही, इसके परे एक मानसिक जीवन की भी गति है, भौतिक विकास के साथ चेतना का अटूट क्रम भी अपना अलग महत्व रखता है। इन्ही द्वैतात्मक वृत्तियो का साधनाशील सश्लेषण उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है। जीवन के इस दोहरे स्वरूप को देखकर एक प्रश्न सामने उपस्थित होता है। जीवन का चित्रण साहित्य मे किस प्रकार किया जाय? जीवन की स्थूल नग्न वास्तविकताओ को कला के कमनीय आवरण मे ढँक कर साहित्य मे उपस्थित किया जाय अथवा जीवन के अस्त-व्यस्त मौलिक रूप को सयोजित और सगठित करके साहित्य मे स्थापित किया जाय? इसे यथार्थ और आदर्श के प्रश्न का रूप भी दिया जा सकता है। इस विषय मे मेरा निश्चित मत है कि यथार्थ की स्पष्टता और कला पक्ष की कान्तिमत्ता दोनो के सहयोग के विना कोई भी साहित्यिक सृष्टि, विशेष कर उपन्यास सृष्टि सम्भव नही हो सकती। मनुष्य के चर्म आवरण से ढके शरीर के भीतर माँस-मज्जायुक्त जो ककाल है, वह जीवन का घोर यथार्थ है पर साहित्य मे केवल उसी की आवश्यकता नही। वहाँ ककाल को दबाये चर्मावरण से युक्त मनुष्य भी अपना स्थान और अपनी स्थिति रखता है, क्योकि साहित्य मे साहित्यकार की आत्म-अभिव्यक्ति कला का आनयन करती है। भावात्मक उच्चता की उड़ान मे, आदर्शात्मक तथा बौद्धिक विपन्नता की विकलता मे, यथार्थात्मक विभेदो के द्वारा कला अपना स्वरूप सँभालती है।

कथासाहित्य

आदर्श और यथार्थ कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रकार मात्र हैं, स्वयं कला नही। आदर्शात्मकता की ओट में कोरी कल्पना की अस्वाभाविक उपस्थिति उतनी ही भयावह है जितनी यथार्थात्मकता के नाम पर निरी नग्नता का चित्रण। यथार्थ की आदर्शात्मक अभिव्यक्ति ही कला की संज्ञा पाती है। इस कारण यथार्थ की जीवनदर्शिता और आदर्श का सहज समभाव्य आग्रह लेकर चलना ही साहित्यकार के लिये श्रेयस्कर है। इस सामञ्जस्य को छोड़ कर साहित्यकार सफल नही हो सकता क्योंकि आदर्श के नाम पर भावुकता के स्वाभाविक सम्बल से जीवन के वास्तविक जटिल संघर्ष से दूर भग कर अथवा यथार्थ की आकुलता में जीवन के प्रकाशमय पहलू की उपेक्षा कर के साहित्य सृजन सम्भव नही। साहित्य कभी जीवन के उल्लास से उदासीन और उसके विषाद से विचलित नही होता। वह दोनो की सुसंगति का समर्थक है।

सच्चा कलाकार वही है जो जीवन की कठोरता के प्रति उदार और कोमलता के प्रति आकर्षणशील है, वह एकान्त रागी या विरागी नही हो सकता। यथार्थ और आदर्श के प्रति यह विवेक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक है अन्यथा किसी प्रकार की व्यवस्था का निरूपण ही न हो सकेगा। साहित्य मे यथार्थ कलाकार के सहज स्वभाव का परिचायक और आदर्श उसके सौन्दर्य-बोध का अभिधायक होता है, इसमे कोई सन्देह नही है।

कला की चरम सार्थकता एक हृदय के भावो तथा विचारों को दूसरे हृदय के भावो एव विचारो तक पहुँचाने में है। आदि युग से आज तक मनुष्य इसी प्रकार एक दूसरे के विचारो से परिचित होते आये हैं। कथा, शायद इस प्रकार की सब से प्रथम और अन्तिम कला है। संसार-साहित्य का आधार कहानिया ही हैं। इस दृष्टिकोण से कहानी और उपन्यास में कथा-साम्य के साथ कुछ अन्तर भी है, यद्यपि दोनो का उदगम एक ही है—जीवन की मार्मिकता।

कहानी, यदि भावना और कल्पना से जीवन को गति देती है तो उपन्यास उसे चिंतन की चेतना,से चलाता है। कहानी जीवन के एक भाव की उद्भावना है तो उपन्यास उसकी भाव-समष्टि की व्याख्या, दोनो का पथ एक है ध्येय एक है, गति एक है क्योंकि दोनों जीवन के ही पथ पर चलते हैं, किन्तु कहानी जीवन की एक मनोरम झाकी है, दृष्टिविन्दु का एक स्नैप है तो उपन्यास उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा। कहानी जीवन के किसी एक भाव, विचार अथवा अवस्था, की अभिव्यक्ति है किन्तु उपन्यास जीवन की समस्त भावनाओ, विचारधाराओं और अवस्थाओं का साथी है। अस्तु यह भी कहा जा सकता है कि कहानी और उपन्यास की सहेतुक मूलगत एकता के साथ दोनो के उद्देश्य, वर्णन प्रणाली, रचना कौशल, और जीवन के स्वरूप को लेकर उतना ही अन्तर है जितना उनके आकार-प्रकार का। दोनो की अलग-अलग विशेषता और विशिष्टता है।

भारत मे उपन्यास लिखने की प्रथा पुरानी नही है। सम्भवतः किसी भी भाषा मे उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति बहुत प्राचीन नही। उपन्यास का सूचक अंग्रेजी शब्द 'नावेल' १४६० से अंग्रेजी मे प्रयुक्त होने लगा है। यदि भारतीय, बाणभट्ट की 'कादम्बरी' के उपन्यास होने का दावा छोड दे तो यहाँ उपन्यासों का विकास आधुनिक युग का ही वरदान माना जायेगा। यद्यपि विश्व-साहित्य मे उपन्यास का बीज वपन मुरासकी नोशिकीबू जापानी महिला द्वारा १००० मे ही कर दिया गया था किन्तु उपन्यासो की समुचित महत्ता का पता १८वी शताब्दी तक नहीं चला। उपन्यास के अचानक विराट रूप धारण कर लेने के समय का श्रेय १९वी शताब्दी को ही मिलना चाहिये। जो भी हो, हमारा सम्बन्ध विश्व-साहित्य की ऐतिहासिक छानबीन से उतना नहीं जितना हिन्दी साहित्य से है।

१९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क और

अनेक आन्दोलनो की उद्भावना से नवयुग का आविर्भाव हुआ। हमारा साहित्य भी नवीन भावधारा के प्रवाह में प्रवाहित हो चला। गद्य-साहित्य की आशातीत उन्नति हुई, हिन्दी-उपन्यास इसी युग की सृष्टि है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन की सम-विषम परिस्थितियो द्वारा उपन्यास के स्वरूप का सर्व प्रथम ढाँचा बना, यो तो इसके भी पहले कई उपन्यासो के लिखे जाने का पता चला है पर अभी तक श्री निवासदास लिखित 'परीक्षागुरु' हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना जाता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक हिन्दी का सर्व प्रथम अनुवादित सामाजिक उपन्यास प्रकाशित किया। कथानक मे रूढिवादी और प्रगतिशील विचारो के संघर्ष प्रदर्शन के पश्चात् प्रगति की विजय होती है। साहित्य के अन्य क्षेत्रो की भाँति इस क्षेत्र मेभी भारतेन्दु के नेतृत्व मे उपन्यास साहित्य की श्री वृद्धि हुई। किशोरी लाल गोस्वामी देवीप्रसाद शर्मा तथा गोपालराम गहमरी की सेवा इस दिशा मे उल्लेखनीय हैं।

उस समय के उपन्यासो मे शिक्षा और नैतिकता की अधिकता के सिवा और कुछ नही है, किन्तु उस समय उसी का मूल्य था इसे स्मरण रखना होगा। उपन्यास साहित्य मे शुद्ध भारतीय विचारधारा के साथ फारसी की जादूभरी वासनामय कहानियो का प्रभाव भी पडता चला गया और लोग बाग तिलस्मी सीसमहल, ऐयारी, प्रेम और काल्पनिक शौर्य की ओर अधिक आकर्षित होने लगे। देवीकीनन्दन खत्री के उपन्यासो मे इस प्रवृत्ति को चरमोत्कर्ष मिल गया। तिलस्म के सहारे घटना वैचित्र्य उनके उपन्यासो की रीढ है। खत्री जी के पास मानव चरित्र-चित्रण और भाव-व्याख्या का कोई महत्व नही है किन्तु घटनाओ के सगठन मे वे अद्वितीय हैं। उनकी देखादेखी हिन्दी मे तिलस्मी और जासूसी उपन्यासो की बाढ़ सी आ गई।

बगाल मे नई शिक्षा के प्रभाव का प्रचार बहुत पहले हो गया था, देशकाल के अनुसार वहॉ का साहित्यिक-दृष्टिकोण भी कुछ अधिक विस्तृत और व्यापक बन गया था। नये ढंग के नाटको और उपन्यासो की रचना का सूत्रपात वहॉ हो चुका था किन्तु हिन्दी मे अभी, केवल मनोरजन का प्राधान्य था। साहित्य मर्मज्ञ अनुवादो के द्वारा अपनी क्षति-पूर्ति करने मे जुट गये। बंगला के अलावा संस्कृत, उर्दू तथा अँग्रेजी आदि भाषाओ की रचनाओ के भी अनुवाद किये गये। कतिपय अनुवादो को छोडकर यद्यपि इस काल की औपन्यासिक रचनाओ को प्रौढ नही कहा जा सकता, तथापि यह भी सच है कि बीज मिट्टी मे मिलकर ही भावी वृक्ष का अकुर बनता है।

उपन्यास कला का आधुनिक विकास उसमे जीवन की विवेचना और मनोविज्ञान की स्थापना से हुआ। अब तक के उपन्यासो मे मानव-जीवन की सघर्षमयी विरोधी प्रवृत्तियो के सुझाव का कार्य, सयोग या दैवी घटनाओ से ही होता था किन्तु धीरे-धीरे उसमे वास्तविकता और मनोवैज्ञानिक तत्व का समावेश होने लगा। लोग समझने लगे कि जीवन का गतिविधि का सचालन किसी अज्ञात शक्ति द्वारा नही वरन् मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क से होता है। शरच्चन्द्र और रवीन्द्र ने मनोवैज्ञानिक चित्रण और विश्लेपण की उपन्यासो मे प्राण-प्रतिष्ठा की। वैज्ञानिक सभ्यता के प्रचार के साथ-साथ लोगो को अपने मस्तिष्क और हृदय की स्वाभाविक क्षमताओ का भी पता चला और उपन्यास-साहित्य मानव जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप मे आदृत होने लगा।

सच्चाई के इस आग्रह से लोगो के भोलेपन को ठेस लगी, वे जगे और जीवन-जगत् की ओर सतर्क दृष्टि से देखना शुरू किया। वैदिक गाथाओ, पौराणिक जातक कथाओ और कोमल कल्पनाओ से उनकी मुठभेड सम्भव थी और हुई, क्योंकि भारतीय साहित्यकार यहॉ पहुँच कर विश्वासी की अपेक्षा शसयवादी अधिक हो उठा। कोरी कल्पना की कलामयी कलना

की छलना से वह ऊब उठा, अन्धविश्वासो की आस्था के प्रति वह विद्वेषी बन गया और उसने उपन्यास मे जीवन की पूर्णता का वैज्ञानिक शृगार किया। वास्तव में यही से आधुनिक उपन्यास साहित्य का आरम्भ होता है। उपन्यासो मे कथानक के भीतर चित्रण तथा वर्णन की प्रणालियाँ परिवर्तित हो गई और इन दोनो की संगति के सहज-सौन्दर्य ने उपन्यासों के उच्चतम कलात्मक रूप को एक ससक्त सजीवन दे दिया। उपन्यास का कथानक, अब केवल लेखक का वकतव्य न होकर श्रोता और वक्ता का मध्यस्थ बन गया। वर्णन, जीवन की परिस्थितियो के अनुकूल और स्वाभाविक होने लगा। वाणी ने वातावरण आछन्न करना शुरू कर दिया। समय ने स्थिति और स्थिति नें भावावेश का पल्ला पकडा। बुद्धि ने हृदय का साथ लिया और उपन्यासकार आगे बढ चला। मनोवैज्ञानिक चित्रण ने उपन्यास की व्यापकता को बहुत आगे बढ़ा दिया। रगभूमि मे मानव-मस्तिष्क और हृदय का विश्लेपण इस बात का सुदृढ साक्षी है। आगे चलकर इस शैली ने जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय में अपना सहज विकास पाया।

गत महायुद्ध के बाद से साहित्य में, खासकर उपन्यास मे मनोविज्ञान का आग्रह इतना बढा कि लोगों को उसकी सच्चाई के प्रति सन्देह होने लगा। जीवन की किसी दिशा की गति का निरूपण कभी केवल बुद्धि या हृदय से नही हो सकता, इसके लिये दोनो के समन्वय की आवश्यकता होती है फिर भी मनोविज्ञान के आधिक्य ने हानि की अपेक्षा लाभ ही पहुँचाया है। 'प्रेमाश्रम' इसका उज्ज्वल उदाहरण है। इलाचन्द्र जोशी की कृतियाँ इस विकास की सीढियाँ हैं। हिन्दी उपन्यासो मे सभाषण का विकास अपेक्षाकृत देर से हुआ किन्तु वार्तालाप के द्वारा चरित्रो के स्वाभाविक विकास की सम्भावनाये सचेत हो उठी और कथा का प्रवाह स्निग्ध हो गया। 'कौशिक' जी के 'माँ' नामक

उपन्यास मे वार्तालाप का अच्छा निर्वाह है। सम्भाषणो द्वारा चरित्रों के अन्तर्दर्शन ने मनोविज्ञान के साथ स्थूल और सूक्ष्म को, यथार्थ और आदर्श को, विज्ञान और कला को, व्यक्ति और समाज को तथा भाव और क्रिया को जीवन की व्यञ्जना मे एक कर दिया और उपन्यास की कथाशैली का पूर्ण विकास हुवा।

एक विभिन्न आत्मकथात्मक शैली रवीन्द्र के 'घर और बाहर' के समान हिन्दी मे अपना एकान्त पोषण पाती रही। 'घृणामयी' का कथानक उत्तम पुरुष के माध्यम से संचरित होता है। 'सन्यासी' हिन्दी उपन्यासो मे इस कला की केवल मात्र सफल कृति है। इस शैली का एक अपना दोष भी है। विशेप कर जब लेखक तटस्थ नही रह पाता, तब यह दोष ऊपर उभर आता है। कई पात्रो की कथाओं के सम्मेलन से कथानक का स्वरूप सामने आता है और प्रायः पाठक उसे सॅजो नही पाता, कथानक की सहज सुगमता में बाधा पडती है। 'मैं' की ममता का भी डर बना रहता है, अन्यथा पात्रो की स्थूल से स्थूल तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओ के चित्रण के सहारे उनका चरित्र-चित्रण अपनी चरम सीमा को छू लेता है, यह निर्विवाद है। 'सौन्दर्योपासक' तथा 'कलक' इस दिशा के पराजित प्रयास हैं। प्रसाद ने रवीन्द्र की काव्यात्मक शैली के निर्वाह की 'ककाल' मे सफल चेष्ठा की है। यह उपन्यास विचारो और अभिव्यक्ति की व्यवस्थाओ में उपन्यास-कला की अपेक्षा काव्य-कला के अधिक निकट है।

उपन्यास के इस बहुमुखी प्रयास ने कहाॅ नहीं प्रवेश पाया। पत्रो और डायरी के पन्नो द्वारा उपन्यास के स्वरूप-निर्माण का उद्वेग किया गया। क्रम से 'चन्द हसीनो के खतूत' और 'शोणित-तर्पण' इस शैली मे अकेले हैं। इन्ही कृतियो से इस प्रकार का आदि अन्त दोनो हुआ।

शैली विशेप का बिना मूल्यॉकन किये हुये उपन्यासो की लोक-प्रियता बहुत बढ़ गई और धर्म तथा समाज के ठेकेदारों ने भी

अपने सिद्धान्तों के प्रचार का साधन-उपन्यास को बनाना चाहा। आर्यसमाजिओं के उपदेशात्मक उपन्यासों का स्मरण यहाँ आवश्यक है। समाज-सुधारको ने भी उपन्यासो के द्वारा सामाजिक विपन्नताएँ और उनके सुझाव सामने रखे। भारतीय समाज की दासता-जन्य विकृत परिस्थितियो को सब से अधिक औपन्यासिक सहानुभूति मिली। इससे अधिक व्यापक उद्देशो के प्रति जनता धीरे-धीरे अपने आप उन्मुख हो चली और उपन्यास का, जीवन के किसी स्तर के माध्यम से लोक-कल्याण की सामूहिक भावना का विस्तार बढ़ने लगा। रैफेल चित्रकार का कथन यहाँ उल्लेखनीय है—"सत्य की खोज में जब लोग मन्दिर में गये तब पुजारिन ने पीने को (चरणामृत की जगह) उन्हे एक प्रकार की मदिरा दी। वह किसी को मीठी किसी को कड़ुवी तथा किसी को बड़ी तीखी लगी। मदिरा वही थी किन्तु उसका स्वाद भिन्न-भिन्न था। इसी प्रकार कला की किसी भी वस्तु का मूल्य आँकने में मतभेद पाया जाता है"। कला का हेतु क्या है? यह आज भी विवाद के परे नही है, अस्तु कला उपयोगिता के लिये अथवा कला कला के लिये के विवादो मे पडना व्यर्थ है। इस विषय को लेकर विश्व-साहित्य मे काफी विवाद हो चुका है, निष्कर्ष रूप मे कला और जीवन का योग सभी ने माना है और जीवन अपनी उद्देश्य हीनता मे ससार का कोढ बन जाता है।

अतएव आज कला की सहेतुकता से किसी का कोई मतभेद भी सम्भव नही है। सम्पूर्ण मानवता की कल्याणकारी मार्क्सवादी भावना ने इस सत्य को अधिक समीप ला दिया है। मार्क्स और फ्राइड ने व्यापक जीवन की सुचारुता का सब से सुन्दर सन्देश दिया है। आधुनिकतम उपन्यास इन दोनो जीवन-द्रष्टाओ के दृष्टि कोणो के समन्वय के द्वारा सम्पूर्ण मानवता को कल्याण-पथ पर आरूढ़ करने की महत्ताकाँक्षा से महिमान्वित है। जीवन की सजीवता और विषय विकास की स्वाभाविकता उसके कला की सब से बड़ी साख है।

आधुनिक

एक बात और। फ्राइड के नाम मे कुछ अजब सा जादू है, लोग उसे सुन कर या तो नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं या उसकी निन्दा ही शुरू कर देते हैं। यह ठीक नही। जीनव के सारे व्यापार कामना ही के स्वरूप हैं। वैराग्य अनुराग का ही दिशा भेद है। काम-मनोविज्ञान के आचार्यों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि संसार के सारे व्यापार काम-वासना के सकेत पर ही सचरणशील बनते है। भारतीय विचार-धारा ने भी इसको बहुत पहले से स्वीकार कर रखा है। प्रकृत्ति और पुरुष के सम्मेलन से सृष्टि की उत्पत्ति मान लेने पर काम-प्रवृति की मान्यता अपने आप अपनी स्वीकृति पा लेती है। उपनिषद् के सारगभित शब्दो को हम भूल नही सकते—'एकाकी ना रमत आत्मानं द्वेधा व्यभजत, पतिश्च पत्नी चभवत्'। अग्रेजी कवि कूलरिज का भी कहना है—

जीवन को गति देने वाले सभी भाव, विचार और उद्वेग प्रेम की आधारभूत मनस्थिति के ही परिणाम हैं।

वास्तव मे काम प्रवृत्ति इतनी व्यापक और तीव्र होती है कि ससार के कार्य-कलाप से इसका सम्बन्ध विच्छेद नही किया जा सकता। संसार मे जो कुछ है, वह काम की चेष्ठा का ही परिणाम है। वैदिक द्रष्टा ने भी कहा है—'काममय एवाय पुरुषः'। भावो की व्यवस्था के लिये काममय होना अनिवार्य है। चित्त रूप वृक्ष के दो बीज है एक प्राण स्पन्दन और दूसरी वासना। इन दोनो मे से किसी एक का नाश होने पर दूसरा स्वतः नष्ट हो जाता है। अतएव जो निष्काम है वह निष्क्रिय है। इतना होते हुये भी यह स्मरण रखना होगा कि इस प्रवृत्ति का दुरप्रयोग मनुष्य के विनास का कारण होता है। जिस अग्नि से उष्णता और प्रकाश मिलता है वह मनुष्य को भस्म करने की भी क्षमता रखती है। साहित्य मे फ्राइड के इस सिद्धान्त के नाम पर कुछ बहुत ही गदी चीजे सामने आ रही हैं, उनसे सावधान रहने की अतीव आवश्यकता है। काम तथा वासना का सकुचित अर्थ मनुष्य को पशु

से ऊपर नही उठने देगा, यह मेरी दृढ़ धारणा है। आधुनिकतम उपन्यासों मे इस व्यापक सत्ता की विकृति के वाहुल्य से बडा खेद होता है।

जो भी हो, बीसवी शताब्दी का प्रारम्भ हिन्दी-साहित्य के नवीन जागरण का प्रारम्भ है। इस समय से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे नवीन स्फूर्ति, नवीन आशा और नवीन उद्देश्य का प्रादुर्भाव हुआ। साहित्य-क्षेत्र मे भी नवीनता का आभास मिला। कला का उद्देश्य जीवन को सुखद बनाना बन गया। प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति, अब कला को केवल कला की दृष्टि से न देख कर उसके माध्यम से जीवन और उसकी सामूहिक समस्याओ का भी विचार करने लगे। इस नवीन जागृति के परिणाम-स्वरूप, साहित्य और कला मे वास्तविकता की भावना का तीव्र गति से समावेश होने लगा। फिर भी जीर्णप्राय साहित्य के प्रति कुछ लोगो की ममता बनी रही। इन लोगो ने केवल अपनी प्रवृत्तियो के प्रकाशन की चिन्ता की, जीवन के उद्देश्य और उसकी उपयोगिता का मूल्य उन्होने नही माना किन्तु ऐसा साहित्य निकम्मा, दुर्बल, पगु और अस्वस्थ बनता गया, और समय की कठोर परीक्षा मे अपने आप असफल सिद्ध हुआ। स्वाभाविक भी यही था क्योकि साहित्य का उद्देश्य उन्नत वातावरण पैदा करना है। उस वातावरण को सुचारु रूप से सचालित करना ही कला की सिद्ध है। सम्पूर्ण मानव-समाज उस कला का साधन मात्र है।

विश्व-जीवन का प्रतिपल युद्ध का एक एक आघात है, सघर्ष का स्पन्दन है। साहित्य के हर अग और कला के प्रत्येक अश को जीवन की समस्याओ के प्रति सहानुभूति रखना ही उसकी सार्थकता है। विश्व की इस विचार-क्रान्ति का स्वागत और जीवन में उसकी स्थापना, तथा उपन्यास साहित्य मे उसकी उद्भावना का श्रेय स्वर्गीय प्रेमचन्द को है। उन्होने अपनी कृतियो द्वारा महर्षि टालस्टाय के,

आधुनिक

"कला मानव-समाज की एकता का साधन है। उसका उद्देश्य है जन सामान्य को एक भावना से उन्नति के पथ पर अवाध्य रूप से एकत्र कर देना ताकि व्यक्ति और मानव-समाज दोनो का कल्याण हो" इन शब्दो को साकारता देने की आजीवन चेष्ठा की है, इसे कौन नही जानता ?

प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य की आधुनिकता के अग्रदूत है। गत महा-युद्ध के बाद जीवन के आकस्मिक परिणामो के ठोकर से जागकर रक्त-स्वच्छ पृथ्वी मे उन्होने नवीनता का बीजारोपण किया और जीवन तथा जगत की अव्यवस्था-जन्य स्वस्थ मनोवेदना द्वारा भारतीय समाज को जीवनी-शक्ति दी। विश्व-जीवन की मुक्ति का प्रयास उनमे नही किन्तु राजनीति मे गाँधी की भाँति साहित्य मे उन्होने राष्ट्र-जीवन के बन्धन को ढीला किया। अतीत की अतिशयता पूर्ण कल्पना और भविष्य की आशामयी सम्भावना का छोर छोडकर जब कलाकार वर्तमान की वास्तविकता के प्रति आकर्षित होता है, तब उसका साहित्य अपने समय का स्वच्छ दर्पण बन कर सामने आता है। प्रेमचन्द की कृतियाँ उनके युग की सच्ची और स्पष्ट सूचनाये हैं। अतीत के आँचल की ओट से अपनी आधुनिक उपस्थिति देने वाले 'प्रसाद' को भी अपने समय की समस्याओ की विदग्धता पर मुग्ध होना पडा था। उनके उपन्यास इस बात का सकेत करते है, किन्तु उनकी दिशा प्रेमचन्द से भिन्न है।

अँग्रेजी शिक्षा के निकट सम्पर्क मे आने वाले कतिपय नययुवको ने द्विवेदी युग मे रहते हुये भी अपने साहित्य को उससे भिन्न रखा। जिस प्रकार काव्य मे गुप्त जी की राष्ट्रीयता के परे प्रसाद, निराला, पन्त तथा महादेवी का स्वतत्र विकास सम्भव हो सका उसी तरह प्रेमचन्द-की सामयिकता से तटस्थ रहकर कथा-साहित्य मे भी, भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती

चरण वर्मा तथा अज्ञेय आदि अपनी स्वतंत्र प्रेरणाओ को परिवर्धित करते रहे। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य मे गॉधी का दर्शन दिया तो इलाचन्द्र ने मनोविज्ञान का। भगवती प्रसाद वाजपेयी ने मध्ययुग की भावुकता मे आधुनिक पालिश चढाई तो भगवती चरण वर्मा ने उसमे ब्रासो की चमक़ ला दी। निराला और जैनेद्र ने भारतीय-दर्शन को व्यावहारिकता दी तो अज्ञेय ने स्नेह की स्पष्टता। वृन्दावन लाल वर्मा का इतिहास और साहित्य का समन्वय अपने ढंग का अकेला है, जैसे प्रसाद के नाटको का। बग-भग के बाद अन्तःसलिला की भॉति प्रवाहित क्रान्ति की भावना ने भी साहित्य में अपने मनतव्य का प्रकाशन पाया है। यशपाल इसके अगुवा हैं, किन्तु क्रान्ति की अपेक्षा यौवन की उष्णता के वे अधिक निकट हैं।

एक ही राष्ट्र के भीतर विभिन्न जीवन-स्रोतो की भॉति कथा-साहित्य की बहुमुखी अभिनव प्रेरणाये पनपती जा रही हैं और उपन्यास अपना सात्विक तथा शाश्वत निखार पा रहा है। आज कथाकार, जीवन-व्यापी संघर्ष की कठोरता, जीवन की अन्तप्रवृत्तियो की विविधता और वातावरण तथा परिस्थितियो के प्रभाव से विकसित मनोविकारो की मार्मिकता का अनुभूत उद्घाटन करके सम्पूर्ण मानवता के लिये कल्याण का मार्ग मुक्त कर रहा है। वह जानता है कि उसकी रचना जीवन के केन्द्र पर स्थित होकर ही उसकी मर्म-पीड़ा का प्रकाशन एवं उपचार का साधन सामने रखने मे सफल हो सकेगी, अन्यथा नही। सामूहिक जीवन की जीर्ण शीर्ण रुग्णता को दूर करके उसे स्वस्थ और सशक्त बनाने का प्रयत्न ही आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य-बिन्दु है। प्रमुखतः आधुनिक उपन्यास के विकास की यही कथा है।

आधुनिक

प्रेमचन्द

सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो के साथ व्यापक जीवन की गति मे भी परिवर्तन आता है। साहित्य कभी इस हलचल से अछूता नही रह सकता क्योंकि वह जीवन का अन्तर्दर्शन है। गाँधी के असहयोग ने समाज के अन्य क्षेत्रो की भाँति साहित्य को भी प्रभावित किया। कथा-साहित्य मे प्रेमचन्द और काव्य-साहित्य मे मैथिलीशरण गुप्त इस आन्दोलन के साहित्यिक-अधिनायक हैं। गाँधी-युग तक पहुँचते पहुँचते भारतीय आध्यात्मिक जीवन रूढि ग्रस्त और भौतिक जीवन कोढ़ ग्रस्त हो गया था। असहयोग-आन्दोलन ने जीवन मे जागरण की सूचना दी और फल-स्वरूप हमारा साहित्य समाज-रचना की चाल से अपनी चाल मिलाने लगा। इस समय कथा-साहित्य मे दो विचार धाराओ का उदय हुआ—एक, जो अपने अभाव जगत् (दैनिक जीवन) मे बीसवी शताब्दी की सारी उथल-पुथल का का भार ढोते हुये भी भाव-जगत् (काल्पनिक जीवन) मे मध्यकाल की रगीनता का स्वॉग रचती रही, दूसरी, जो मध्यकालीन सम्पन्न वर्ग की दुर्बलताओ के कृत्रिम आवरण को दूर फेक कर दैनिक जीवन की अस्तव्यस्त ओढनी ओढ़कर आगे बढी। प्रेमचन्द इसी दूसरी विचार-धारा के प्रौढतम विकास हैं।

इस जागरण मे प्रेमचन्द ने कोई नया-ससार नही बसाया वरन् पिछले ससार की त्रुटियो के परिमार्जन की चेष्टा की और उन्हे दूर करने की आवाज उठाई। वे सुझाव के साथ-साथ सुधार की ओर बढे। यह स्मरण रखना होगा कि जो सुधार भारतेन्दु-युग मे जातीय अथवा सामाजिक घेरे में ही सीमित था वह अब अखिल भारतीय

बनकर अपना सहज विस्तार पा चुका था। फिर भी वह विश्व-व्यापकता का स्पर्श नही कर सका, इसमे भी सन्देह नही है। क्रमिक विकास के अनुसार शायद और कुछ सम्भव भी नही था। यही कारण है कि प्रेमचन्द के साहित्य में भारतीयता और कला का सघर्ष बराबर चलता रहा, अन्त में (गोदान मे) दोनो को छोडकर मनुष्यता की विजय रही।

प्रेमचन्द ने हमारे सामाजिक प्रश्नो को समस्त देश के जीवन-मरण के रूप में ससार के सामने रखा, यही उनकी सब से बडी साहित्यिक देन है। "सत्य को जहाँ मनुष्य स्थूल रूप मे अर्थात् आनन्द रूप मे, अमृत रूप मे प्राप्त करता है, वही अपना एक चिह्न खोद देता है। वह चिह्न ही कही मूर्ति, कही मन्दिर, कही तीर्थ और कही राजधानी हो जाता है। साहित्य भी यही चिह्न है"। प्रेमचन्द का साहित्य भी उनके सत्य-ग्रहण का चिह्न है, मानवता के प्रति सहानुभूति-मय आत्मपीडन का प्रतीक है। बाह्य ससार हमारे अन्तर-ससार मे प्रवेश पाकर एक नया रूप धारण कर लेता है। उसमें केवल बाह्य संसार के रूप, रग तथा रस आदि ही नही रह जाते वरन् उसके साथ हमारा प्रेय-श्रेय और भला-बुरा भी मिल जाता है जो हमारी मानसिक-वृत्ति के मिश्रित रस से सिक्त होकर हमारी साहित्यिक कृतियो मे अपना स्वरूप पाता है। अतएव साहित्यकार की संस्कार जनित समवेदनशील वृत्तियो की विस्तार-प्रमुखता और संकीर्णता उसकी साहित्य-साधना मे सहायक अथवा बाधक होती है। यही कारण है कि भाव-प्रवण व्यक्तियों के मन का साहित्यिक-जगत् बाह्य जगत् की अपेक्षा मानवता के लिये अधिक अपना होता है। हृदय का यह जगत् अपने को बाह्य जगत् के बीच मे स्थापित करने के लिये सदैव व्याकुल रहता है। चिरकाल से साहित्य का आवेग इसी आकुलता का उदारहण है, इस-लिये साहित्य की विवेचना करते समय दो बातो पर विचार करना अत्यन्त

आधुनिक

आवश्यक होता है। प्रथम लेखक के हृदय का, ससार के ऊपर कितना अधिकार है? द्वितीय उसके व्यक्त करने का साधन स्वस्थ है अथवा नहीं! प्रेमचन्द अपने साहित्य की भाति स्वयं एक विशेप विपन्न सामाजिक परिस्थिति के परिणाम हैं। पीडित वर्ग के भीतर से वे साहित्य मे आये और जीवन के सघर्ष मे सतत् प्रयत्नशील रहे, अपने साहित्यक-प्रयासों मे उन्होने कभी अपनी जीवन-जन्य सामर्थ्य की सीमा लॉघने की चेष्टा नहीं की। अस्तु वे अपनी कलात्मक कुलीनता मे अद्वितीय हैं, उनका दृष्टिकोण सीमित होते हुये भी सर्वथा स्वस्थ है और उनकी सेवाये सर्वमान्य हैं।

गाधी के आन्दोलन से हम अपने समस्त देश ही के नही वरन् सम्पूर्ण ससार के नकट परिचय मे आये और हमें इस बात का बोध हुआ कि हमारा यह साहित्यिक जागरण अन्य देशो की मध्ययुग की अँगड़ाई का आभास मात्र है, क्योकि बँगला के जिन दो महान कलाकारो रवीन्द्र तथा शरद् का प्रभाव हिन्दी मे पड रहा था वे स्वयं हमसे बहुत पहले विश्व-साहित्य के निकट परिचय मे आ चुके थे और उनकी कृतिया गम्भीर साहित्यिक प्रेरणाओ से अनुप्राणित हो चुकी थी। बंगाल की भाँति ही हिन्दी मे मध्यकाल का आधुनिक सस्करण हुवा, कहना न होगा कि 'प्रसाद' ने राजसस्करण और प्रेमचन्द ने प्रजा संस्करण का प्रतिनिधित्व किया।

हिन्दी कथा साहित्य के राजतन्त्र युग के वे सब से श्रेष्ठ प्रजा-प्रतिनिधि हैं, यह मेरा दृढ विश्वास है। हमारा भौतिक और आध्यात्मिक, वैयक्तिक और सामूहिक, नाशवान और शाश्वत, क्षणिक और चिरकालिक हित उसी मे है जिसमे विश्वमानव के बीच सम-भाव प्रतिष्ठित हो और परस्पर स्नेह-सहानुभूति का अटूट बन्धन सहज ही स्पष्टता पा जाय। कला में बुद्धि से भाव की ओर अग्रसर होकर विश्व-मानव को एक करना होगा, प्रचलित जीर्ण-शीर्ण दूषित और दुर्बल सामाजिक

पद्धति और मानव के प्रति मानव की अत्याचार पूर्ण पौराणिक व्यवस्था का ध्वस करके ससार का नवनिर्माण करना होगा। यही मानव जीवन का, वस्तुतः कला का चरम लक्ष्य है। 'युक्त करो हे सवार सगे' (सब के साथ मुझे मिलाओ) वाली एक्य भावना की उत्कठा ही साहित्य-कला की कमनीय कोटि है। माना कि प्रेमचन्द का कथा-साहित्य कला की इस कोटि का नही किन्तु कला की अन्य अनेक कोटियाँ हैं।

प्रतिभा विस्मय की वस्तु नही, वह बुद्धि साध्य वह मनोरथ है जिसका अकुर साधारण कृषि-अकुर की भाँति अपना ह्रास और विकास देखता है। सृजन में साधना के बिना सफलता मिल ही नही सकती। ससार की कोई महान भाव-सृष्टि बिना अविरत साधना, स्वशासित सयम और स्वाभाविक समन्वय की सीढ़ियाँ पार किये महत्ता का आँचल तक नही स्पर्श कर पाती, फिर पूर्ण सफलता की बात कौन कहे? यह विधान ससार के किसी भी महान साहित्यकार के प्रति लागू होता है किन्तु प्रेमचन्द इसके अन्यतम उदाहरण हैं। चाहे वे विश्व-भावना से भले ही दूर रहे हों, मार्क्स की अपेक्षा गाँधी को ही अपनाया हो, प्रगतिवादी की अपेक्षा आदर्शवादी ही रहे हो पर वे अपनी प्रतिभा और परिश्रम के बल से भारतीय कथा-साहित्य मे एक ऐसी उज्ज्वल ज्योति का आयोजन कर गये हैं जो अपनी सचाई के लिये स्वय सबसे बडी शपथ है। भारतीय कथा-साहित्य के लिये वे दीपस्तम्भ का काम कर गये है। उनमे हमे रवीन्द्र और शरद् दोनो के दर्शन होते हैं। उनका आदर्श रवीन्द्र के साथ और यथार्थ शरद् के साथ बराबर चलता है।

आज प्रेमचन्द हम लोगो के बीच मे नही हें किन्तु उनकी लेखनी द्वारा मूक भारतीय, पराजित और पीडित जनता की मर्म-वेदना का जो स्वर झकृत हुआ है, वह उत्तम और उच्च है, ससार साहित्य मे उसका अस्तित्व अमिट है। सम्भवतः शेक्सपियर ने कहा था—

आधुनिक

मेरे प्यारो ! मेरे मरने के बाद कोई दुख का गीत न गाना
प्रेमचन्द भी इसी श्रेणी मे हैं ।

प्रेमचन्द के साहित्य का अध्ययन करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि १६०६ का स्वदेशी आन्दोलन अब १६१६ के 'जलियाँ वाला' बाग की घटना के बाद असहयोग आन्दोलन का सुदृढ एव स्वस्थ स्वरूप पा चुका था। साहित्य मे उसका आभास आवश्यक था, यह अनुभूत सत्य है कि राजनीतिक तथा सामाजिक क्रान्तियाँ सदैव साथ-साथ एक दूसरे के पश्चात् हुआ करती हैं। साहित्य इन दोनो का दर्शन है। समाज और राजनीति की वास्तविक स्थितियाँ आगे चलकर साहित्य की प्राण-प्रवेगिनी धाराये बन जाती हैं, साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है। प्रेमचन्द के समय के भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक त्रुटियो का अध्ययन अनुचित न होगा।

सामाजिक-त्रुटियाँ—हमारा समाज त्रुटियो का ताण्डव है किन्तु उनमें कुछ ऐसी भयानक है जिनकी हीनता का परिणाम हमारे समाज के लिये अत्यन्त हानिप्रद है। इन जटिल-जीर्ण समस्याओ मे सब से पहला स्थान विवाह के सामाजिक बन्धन का है क्योंकि स्त्री-पुरुप का सम्बन्ध समाज की सगति का उत्तरदायी होता है। राजनीति मे नेता गण, समाज मे सुधारक समूह, और साहित्य मे लेखक वर्ग, इस प्रथा के दूषण के निराकरण मे व्यस्त हैं, प्रेमचन्द ने भी इसे अपनाया है। बेजोड विवाह, दहेज की कुप्रथा, पुरुप की अनेक शादियो की स्वच्छन्दता, बाल-विवाह, गरीब और अमीर का विवाह आदि समस्याओ के सुन्दर उद्घाटन अपनी कृतियो मे प्रेमचन्द ने किये हैं। वेश्याचार, लडकियो का बेचना, जुआ, नशेबाजी आदि का भी मर्मस्पर्शी चित्रण और उनके सुधार-सुभाव के उद्योग प्रेमचन्द की कृतियो मे हैं। उन्होने इस समाज के दो भाग कर दिये हैं—ग्रामीण और नागरिक। भारत ग्रामो मे है और प्रेमचन्द उन्हीं के शब्द-चित्रकार।

राजनीतिक-त्रुटियाँ—पाश्चात्य देशो की तरह हिन्दी मे विशेषकर गद्य-साहित्य में, प्रेमचन्द के समय तक शुद्ध राजनीतिक साहित्य की कोई रूप-रेखा नही थी किन्तु सामाजिक समस्याओ के साथ साथ प्रेमचन्द ने राजनीतिक समस्याओ गरीबी, बेकारी, किसानो की विपदा, जमीदारी प्रथा की बुराइयाँ तथा पराधीनता-पोषित अन्य-कठिनाइओ पर भी प्रकाश डाला है। यद्यपि उस समय लोग इनकी प्रधानता से घबड़ाते थे किन्तु आज समाजवाद के सिद्धान्त ने उसे और पास खीच लिया है। देश के जीवन मे जोक की तरह चिपकी इन सभी समस्याओ को साहित्य मे निर्भीकता से अपनाने वाले प्रेमचन्द ही हैं। काव्य मे इनको सँजोने का सुख सयाने गुप्त जी को है। इसलिये कहा जा सकता है कि हिन्दी में जन-साहित्य के विकास की कथा, प्रेमचन्द का कथा साहित्य है।

'यह एक वास्तविक द्वन्द्व है—जैसे कि इस विश्व मे कुछ ऐसी चीज है, जिसका हमे अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व और पूर्ण हार्दिकता से परिहार करना आवश्यक है'। (विश्वास की इच्छा) नामक पुस्तक की इन पक्तियो का प्रेमचन्द ने साहित्यक स्वागत किया है। 'सेवा सदन' से लेकर 'गबन' तक प्रेमचन्द के आत्मगीत का लयविन्दु भारतीय समाज का सहित्यीकरण है। उनकी लेखनी निरन्तर राष्ट्रीय जागरण की वाणी बोलती है।

क्या विश्व-राष्ट्र मे, राष्ट्र विशेष की कोई परिगणना नही ? छोटे राष्ट्रो का संसार के ऊपर एक बडा कर्ज है। विश्व की सर्वोच्च साहित्यक-कला छोटे-छोटे राष्ट्रो का ही निर्माण है। विश्व का शाश्वत साहित्य छोटे राष्ट्रो से ही सर्जित हुआ है। शौर्य के कार्य पीढी दर पीढी से मानवता को प्रभावित करते चले आ रहे हैं, वे अपने स्वातंत्र्य के लिये लडने वाले छोटे राष्ट्रो की ही कृतियाँ हैं। छोटे राष्ट्र वे पवित्र पात्र हैं जिनमे आसव भरकर व्यापक विश्व-शक्ति मानवता के होठों पर लगाती है,

आधुनिक

जिससे हृदय प्रफुल्लित हो जाते हैं, दृष्टि उद्दीप्त हो जाती है और विश्वास सचेत और सम्भाव्य हो उठता है। इस कारण राष्ट्र-विशेष के साहित्यकार का साहित्य प्रायः आदर्शोन्मुख होता है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' मे राष्ट्र-भावना से ऊपर उठ कर विश्व-मानवता का आलिंगन किया है।

'सेवासदन' प्रेमचन्द का नही, हिन्दी का पहला मौलिक सामाजिक उपन्यास है। इसके पहले १९०५ मे उनका 'प्रेमा' नामक उपन्यास निकल चुका था किन्तु इस छोटी पुस्तिका को उपन्यास न कह कर एक बड़ी कहानी कहना ही अधिक न्यायसगत है। इसमे हिन्दू समाज के अत्यन्त पीड़ित वर्ग विधवाओ के उद्धार का सुझाव विधवा-विवाह के रूप मे उपस्थित किया गया है। सेवासदन मे नगर के मध्यवर्ग का बहुत ही सजीव एव मार्मिक चित्रण किया गया है। जीवन की विपन्नता का वास्तविक बोध लोगो को प्रथमवार इस उपन्यास से हुआ। इसके सभी पात्र जीवन के निकट सपर्क मे आने वाले व्यक्ति हैं। सारा कथानक उन्ही के मनोवेगो और क्रिया कलापो के सहारे आगे बढता है।

समाज की जिन अक्षम्य त्रुटियो के कारण मध्यवित्त के परिवारो का भयानक पतन होता है, वही समस्याये इसका केन्द्र-विन्दु हैं। घर और व्यक्ति की अपेक्षा लेखक ने समाज और नगर को अधिक ममता दी है। बेजोड-विवाह, दहेज-प्रथा और वेश्या-वृत्ति की कुप्रथाओ का इसमे सुधारात्मक चित्रण है। दरिद्र पति द्वारा अपमानित और निर्वासित 'सुमन' को वेश्यालय में बिठा कर लेखक ने सभ्यताभिमानी समाज की धज्जियाँ उडा दी है। रूढियो और अन्ध विश्वासो का उत्तरदायित्व प्रेमचन्द ने समाज के ही मत्थे पटका है। युगयुगो से ठुकराई जाने वाली वेश्याओ के प्रति लेखक की मार्मिक ममता और सच्ची स्वाभाविक सहानुभूति है। पदमसिह के शब्दों मे जैसे लेखक का हृदय फूट पडा है—"हमे उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह

घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुप्रथाये हैं जिन्होने वेश्याओ का रूप धारण किया है। यह दालमडी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिम्ब, हमारे पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करे ? उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्तव्य है कि उन्हे सुमार्ग पर लावे, उनके जीवन को सुधारे"। लेखक का हृदय और मस्तिष्क जीवन की अनेक प्रकार की विषम परिस्थितयो के साथ मेल करने मे सदैव सलग्न रहा। देश-प्रेम, भाषा-प्रेम, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य आदि कई भावो के उद्‌घाटन और उद्धार का उन्होने मार्ग सुझाया है। वस्तु-जगत की भॉति भावो के समीकरण का भी सन्देश दिया है। ग्लानि और सयम द्वारा आत्म-शुद्धि की अनवरत चेष्टा प्रेमचन्द के पात्रो की विशेषता है।

'प्रेमाश्रम' मे प्रेमचन्द, नगर से गॉव की ओर मुड़े हैं। किसान और जमीदार के बीच उत्पन्न खिचाव के सुलझाने का इसमे प्रयत्न है। 'प्रेमा' के पश्चात् 'सेवासदन' और तत्पश्चात् 'प्रेमाश्रम' का क्रम, घर के बाद समाज और समाज के बाद देश का क्रम निर्वाह है। लेखक के मनोजगत् मे स्थित गॉव के दर्शन लखनपुर मे होते हैं। यद्यपि इस स्वर्गीय स्थान की अवतारणा ने उपन्यासो को काल्पनिक एव अति कृत्रिम बना दिया है, सब को त्यागी और आदर्शवादी बनाने मे प्रेमचन्द को पर्याप्त परिश्रम करना पडा है तथापि पतितो और कृषको की अधिकार रक्षा का उनमे आकुल आवेदन है।

'रगभूमि' के साथ प्रेमचन्द की रुझान उतनी सामाजिक नही रही जितनी राजनीतिक। 'कर्मभूमि' मे राजनीति अपनी चरम परिणति को प्राप्त होती है। 'रगभूमि' जीवन की वास्तविक रगभूमि है। इसमे लेखक ने समस्त जीवन का सम्पूर्ण चित्र बडी व्यापकता से खीचा है। नगर, ग्राम, अधिकार, कर्तव्य, प्रेम, घृणा, सुख-दुख, आशा-निराशा तथा जय-पराजय आदि सभी जीवन की मूल प्रवृत्तियो को लेकर इसकी

सृष्टि हुई है। यह सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो का समन्वयात्मक सदोद्योग है। भारतीय जीवन की समष्टि का इसमे पूर्ण चित्रण है।

'सेवासदन' नागरिक वातावरण से बोझिल और 'प्रेमाश्रम' ग्रामीण उदासीनता से शिथिल है किन्तु 'रगभूमि' मे एक नवीन टेकनीक के सहारे ग्राम और नगर दोनो साथ-साथ चलते हैं। शोषित और शोषको का सघर्ष होता है। लेखक का दृष्टिकोण मानवतावादी है केवल कलावादी नही। कही-कही सपन्न वर्ग के प्रति अकारण आक्रोप का भी आधिक्य है। गाँधी के राष्ट्रीय-जीवन का सुन्दर समर्थन प्रेमचन्द ने किया है, इसमे सन्देह नही। सूरदास के व्यक्तित्व की झलक गाँधी मे मिलती है। लेखक की राष्ट्रीय प्रतिभा ने यहाँ अपना पूर्ण विकास पाया है। 'प्रेमाश्रम', काल्पनिक रामराज्य के स्वप्न से मडित एक कमेडी है तो 'रगभूमि' जीवन की वास्तविकता से अनुप्राणित ट्रेजडी। 'कायाकल्प' की अलौकिक कथा-वस्तु का विस्तार पाठको का मनोरजन भले ही कर दे पर उस पर उनका विश्वास नही हो सकता। यो तो 'प्रेमाश्रम' के राय कमलानन्द, शक्ति की उपासना से विष भी पचा लेते हैं, 'रगभूमि' का विनय सम्मोहन की बूटी से सोफिया को मोहित करता है किन्तु 'कायाकल्प' मे ऐसे अन्ध विश्वासो की ऐसी अनर्थक बहुलता है कि इसका मूल्य केवल आध्यात्मिक जगत् की वस्तु बनकर आकाश मे उतराता रहता है। इसे वास्तविक जीवन के कटु-अनुभव के बाद मानसिक-जगत् का विश्राम स्थल कहना ही ठीक होगा।

रहस्यो की अनेक उद्भावनाये तर्क और बुद्धि की सीमा मे नही समा पाती, लौकिक न होकर अलौकिक ही रह जाती हैं। लेखक अपना एक उद्देश्य और उत्तरदायित्व समझता है और उसके प्रति प्रत्येक क्षण सजग और सतर्क रहता है। यही कारण है कि प्रेम (जीवन का सपन्न व्यवहार) कभी उनके उपन्यासो का आधार नही बन सका। देश के

असख्य नगे-भूखो की हाय के सामने वे सम्पन्न वर्ग की प्रणय-लीला को प्रश्रय नही दे सके। उनके पात्रो मे प्रायश्चित का प्राधान्य है, संघर्ष का नही, जो प्रेम में अवश्यम्भावी होता है। उनके पात्र अफ्रीका से लौटे गाँधी के सिद्धान्तो से अपना साम्य रखते है योरुप से लौटे देशी नरेशो से नही। यही कारण है कि वे प्रत्येक समस्या के सुधार की एक योजना सामने रखते है उसके स्वाभाविक निराकरण की परवाह नही करते। सम्भवतः प्रेमचन्द केवल गति (कर्म) पर ही विश्वास नही करते, वे सत्य को समझ कर उसको सिद्धान्त रूप से भी ग्रहण करना चाहते हैं, चाहे इससे उनकी कला का खर्व ही क्यो न हो जाय।

मनोरमा का मूक अनुराग और अनुपम त्याग 'कायाकल्प' की मूल चेतना है। सोफिया से भी वह एक कदम आगे है। स्त्री हृदय, उसके निष्काम-प्रेम और आत्म बलिदान में मनोरमा प्रेमचन्द के स्त्री पात्रो में सब से सुन्दर है। यदि लेखक ने आध्यात्म और पुनर्जन्म के प्रति अपना अत्यधिक आकर्षण न दिखाया होता तो यह उपन्यास चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, कलात्मक चुस्ती और भाषा-प्रवाह की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन गया होता। जो भी हो, इसकी कथा-वस्तु एकदम अनोखी नही। शा का 'मैन एन्ड सुपर मैन' भी कुछ ऐसा ही रुख लिये है।

सन् १९३० मे देश ने एक वार फिर अपने प्राणो की बाजी लगा कर सविनय अवज्ञा का कार्य आरम्भ किया। स्वतत्रता के इस सग्राम मे भारतीय जनता ने बड़े-बड़े अमानुषीय अत्याचार सहे। छोटी-छोटी बातो पर गोलियाँ चलाई गई और अपनी निर्धनता के कारण लगान न चुका सकने के फलस्वरूप किसानो ने विद्रोहियो जैसी सजाये पाई। पुरुषो की तो बात ही क्या, पिकेटिङ्ग करती हुई महिलाये भी गिरफ्तार की गई और उनके साथ मानवता की सीमा के परे प्रायः सभी अत्याचार किये गये। यह सब देख कर, समय का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रेमचन्द पुनः 'कर्मभूमि' के द्वारा राजनीति मे आये। 'कर्मभूमि' एक

आधुनिक

राजनीतिक उपन्यास है। इसमे पिछले राजनीतिक सत्याग्रह-आन्दोलन का इतिहास साहित्य के माध्यम से अंकित किया गया है। स्त्री स्वयसेवकाओ ने जो भाग सत्याग्रह मे लिया था, लेखक उससे अधिक प्रभावित हुआ जान पड़ता है क्योकि 'कर्मभूमि' मे सब उपन्यासो से अधिक महिला कार्य-कर्त्रियो का चित्रण एव विश्लेषण किया गया है।

कथानक की दृष्टिकोण से 'गबन' और 'कर्मभूमि' सफल कृतियाँ हैं। उपन्यास के अन्त मे जब 'कर्मभूमि' के सभी पात्र जेल मे आ जाते हैं तब सेठ समरकान्त के मुँह से सब कैदियो के छोड़ने की आज्ञा सन् ३१ के गाँधी-इरविन समझौते का स्मरण दिलाती है। 'कर्मभूमि' के समझौते के पश्चात् प्रेमचन्द कभी फिर इस झगड़े की ओर नही उन्मुख हुये। उन्होने, शायद निश्चय पूर्वक अपने शब्दो को समझ लिया—"ऐसे आन्दोलनो से सैकडो घर बरबाद हो जाने के सिवा और कोई नतीजा नही निकलता, इनसे प्रेम की जगह द्वेष बढ़ता है। जब तक रोग का ठीक निदान न होगा, उसकी ठीक औषधि न होगी, केवल बाहरी टीम-टाम से रोग का नाश न होगा। इस रोग का नाश करने के लिये हमे प्रजा मे जागृति और सस्कार उत्पन्न करने की चेष्टा करते रहना चाहिये। हमारी शक्ति पूरी जाति के जगाने मे लगनी चाहिये"।

'सेवासदन' के बाद से ही भिन्न-भिन्न आलोचको द्वारा प्रेमचन्द पर काल्पनिक, आदर्शवादी, सुधारवादी, उपदेशक और प्रचारक आदि बनने के आक्षेप होने लगे थे। 'कर्मभूमि' तक पहुँचते-पहुँचते देश के जीवन की सतत् पराजय ने इस आशावादी एव आदर्शवादी वीर साहित्यिक सैनिक को भी विचलित कर दिया। वह जितना ही अधिक आदर्श की ओर बढता गया, क्षितिज रेखा की तरह आदर्श उससे दूर होता गया और उसके जीवन-काल मे उसके सभी सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के सुझाव सत्य की स्वभाविकता से दूर स्वप्न

ही रह गये। अतएव मृत्यु की ओर बढ़ते हुये लेखक ने उठ-उठ कर गिर-गिर जाने वाले जीवन की नैराश्य पूर्ण कठोर वास्तविकता का परिचय कराना ही उचित समझा।

'गोदान' में न तो 'रगभूमि' के समान जीवन का कोई निर्दिष्ट आशावादी सन्देश है न 'प्रेमाश्रम' की भाँति किसी रामराज्य का सैद्धान्तिक स्वप्न और न 'सेवासदन' की तरह समाज-सेवा का कार्यक्रम। इसमे केवल जीवन के यथार्थ चित्र और उसकी समस्याये हैं। वास्तव मे प्रेमचन्द समस्याओ के सुझाव मे नही किन्तु उनके उद्घाटन मे अद्वितीय है। 'गोदान' मे समस्याओ के समाधान का सुझाव न होने के कारण कथानक कुछ अपूर्ण-सा अवश्य लगता है। जीवन भी तो अपूर्ण है किन्तु उसमे पूर्णता की अकाँक्षा, उसकी आस्था और उस ओर का एक सन्देश अवश्य रहता है, जो 'गोदान' मे है। होरी की पराजय मे आत्मा की विजय का वह आध्यात्मिक सन्देश नही है जो 'रगभूमि' के सूरदास या विनय मे है।

'गोदान' ग्रामीण जीवन के अधकारमय पक्ष का महाकाव्य है। मनुष्य स्वभाव की सभी विवशताओ को मानते हुये लेखक ने होरी का चित्र खीचा है। परिस्थितियो के विषम चक्र का शिकार होकर भी वह अकर्मण्य भाग्यवादी नही है। वह जीवन के सघर्ष से थका है पर जीवन को जगाने का स्पन्दन उसमे है। यहाँ पहुँच कर लेखक की उपन्यास-कला अपने चरम विकास का स्पर्श करती है। 'गोदान' प्रेमचन्द की विकल आत्म-प्रतिमा है। इसमे एक ओर होरी और उसके गाँव वालो की सघर्ष पूर्ण करुण कहानी है तो दूसरी ओर मालती-मेहता के मित्रो का आमोद-प्रमोद पूर्ण विलासमय जीवन का आख्यान। निराशा और अधकार से भरे हुये ग्राम-जीवन की पार्श्व-भूमि पर नागरिकता का विनोद, समाज-सेवा का स्वाँग, शिक्षा-सस्कृति, स्वार्थगत सिद्धान्त तथा वैभव का वाणी विलास, अपनी अपनी अहमन्यता की ओट मे अड़े खड़े हैं। उस

आधुनिक

अधकार मे इनका प्रकाश शरीर मे पके हुये फोड़े की भाँति लहक रहा है।

यही हमारे वर्त्तमान का यथार्थ चित्र है। इसमे आगत भविष्य की सम्भावनाओ का दर्शन नही मिलता। होरी को उसकी विभिन्न विरोधी परिस्थितियो मे रख कर लेखक स्वय द्रष्टा की भाँति उसके कार्य-कलाप का निरीक्षण करता है। वह लेखक के विचारो तथा सिद्धान्तों का माध्यम मात्र नही वरन् अपनी स्वाभाविक जीवन लीलाओ का सहचर है। उसमे दुर्बलता भी है सबलता भी, सकोच भी है उदारता भी, मोह भी है त्याग भी, वह सदाचारी होते हुये भी धर्म भीरु है क्योकि जीवन का वास्तविक सदाचार समाज ने आज समाप्त कर दिया है। 'गोदान' की कथा गढी हुई नही मालूम होती क्योकि उसमे जीवन की स्वाभाविक गतिशीलता है। जीवन ही कैसे छायालोकमय सुख-दुख इसमे आते जाते हैं। कही खन्ना जैसा खड्ढ है तो कही होरी जैसा उच्च शिखर। चोटी के धनी-मानी व्यक्ति और धरातल के गरीब, सभी के लिये इसमे अवकाश और स्थान है।

मानवीय चित्रो के साथ प्राकृतिक चित्रों का भी इसमे चित्रण है—"फागुन अपनी झोली मे नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड दोनो हाथो से बौर की सुगध बाँट रहे थे, और कोयल आम की डालियो मे छिपी हुई सगीत का गुप्त दान कर रही थी"। इस प्रकार 'गोदान' जीवन की अन्तर और बाह्य-प्रकृति का सफल चित्रण और अनुपम निरूपण है।

प्रेमचन्द के उपन्यासो के अध्ययन और विवेचन से पता चलता है कि उन्होने अपने समय का सफल प्रतिनिधित्व किया है। उनके पात्र देश की सामाजिक अवस्थाओं और राजनीतिक आन्दोलनो की ही देन हैं। सभी पात्र प्रायः आदर्शोन्मुख हैं, पर जीवन तो ऐसा नहीं होता। आदर्श और यथार्थ, जीवन की धूप-छाँही कीडा के पार्श्व-छवि हैं किन्तु

प्रेमचन्द ने पूर्व निश्चित सिद्धान्तो की परिधि के भीतर प्रत्येक पात्र को घुमा कर उसे आदर्श मे उलझा दिया है। यथार्थ की टेढी-मेढ़ी रेखाये, उद्वेगो की आकुलताएँ प्रेमचन्द ने कम ही स्वीकार किया है। उनके चरित्र गतिशील न होकर उनके सिद्धान्तो के सकेत सूचक पथस्तम्भ हैं। कथानक प्रायः खडो मे विभाजित और शिथिल हैं। कथा मे नैसर्गिक निर्झरिणी की अपेक्षा कृत्रिम नहर के ही दर्शन होते हैं। प्रत्येक उपन्यास मे वस्तु की प्रचुरता प्रायः दो स्वतंत्र कथानको की सृष्टि करती है जिसमे एक का आधार समाज और दूसरे का राजनीति है। उनके वर्णन तथा चित्रण अन्तर्पक्ष की अपेक्षा वाह्यपक्ष से आपूरित हैं। विवरण की अधिकता उबा देने वाली होती है किन्तु उनके औपन्यासिक गुणो की अधिकता इतनी स्पष्ट है कि उनकी इन सभी दुर्बलताओ की हम सहज ही उपेक्षा कर सकते हैं। जिन भावनाओ से प्रेरित होकर प्रेमचन्द ने उपन्यासो की सृष्टि की है, उनके मूल मे क्रियात्मक रूप से दो शक्तियो का प्रभाव है। आध्यात्म रूप से उनमे टालस्टाय (गाँधी) की मानव-साधना है और कलात्मक रूप से डिकेस (शरद्) की विविध रूपो मे जीवन देखने की प्रणाली।

टालस्टाय के (परिहार सिद्धान्त) मे पाप-पुण्य का मानव के साथ जो जीवन-सघर्ष है और परिमाण मे पुण्य की जो आधिभौतिक-विजय है, वह प्रेमचन्द के उपन्यासो की आधारभूत शिला है। उनकी पश्चातापमय हृदय की करुण प्रताडना का समन्वय प्रेमचन्द ने भारतीय दर्शन से किया है। निराशा पर आशा की अन्तिम विजय, विषाद पर उल्लास की चिरन्तन सत्ता तथा यथार्थ मे आदर्श की स्थापना के सूत्र का सम्बल उन्हे अपनी कृतियों को देना पडा है। साथ ही प्रेमचन्द के उपन्यासो में मुस्लिम-संस्कृति का भी अप्रत्यक्ष रूप से गहरा प्रभाव है—"अन्त मे सारे दुःखों के वृक्षों से, झाड़-झंखाडों से, अमृत की तरह

मीठे फल निकलेगे, तेरी रोती आँखो मे हँसी खिल-खिला पड़ेगी, तू तो यही जान कि वह है और दयालु है" ।

मुस्लिम-सस्कृति के इस आदि वचन का विवेचन और निरूपण 'कायाकल्प' मे हुआ है। इन प्रभावो के होते हुये भी गाँधी की नवोन्मेषिणी वाणी को अपनाने का अद्भुत आकर्षण प्रेमचन्द मे है। इसी कारण वह कलाकार की अपेक्षा एक राजनीतिक की भाँति साहित्य मे एक राष्ट्र की भावनाओ के शब्द-शिल्पी हैं किन्तु जर्मनी और इटली के प्रखर अंध स्वदेशाभिमान का आभास उनकी रचनाओ मे नही आ पाया, जो पाशविक बर्बरता का बीहड बवन्डर है। पशु-नियमता की अनर्गल स्फूर्ति से अभिभूत स्वदेशाभिमान अन्य राष्ट्रों का शत्रु, अन्य सस्कृति का विरोधक और अन्य कल्याण का निषेधक हो जाता है। प्रेमचन्द की राष्ट्रीयता महात्मा के सत्य और अहिन्सा के शुचि-चेतन से अनुप्राणित है, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ऊँचाई पर स्थिति है। इसीलिये प्रेमचन्द की कृतियाँ प्रचार की साधन नही जीवन की अभिव्यक्ति हैं।

किसी भी महान लेखक की रचना का प्रत्येक स्थल विश्व-जनीन भावों का प्रतीक नही होता। शेक्सपियर के नाटको के प्रत्येक स्थल सम्पूर्ण मानवता की भावनाओ से ओत-प्रोत नही, टालस्टाय की कृतियो का प्रत्येक पृष्ठ देश काल की सीमित भावनाओ से विमुक्त नही, हाँ कुछ ऐसे स्थल अवश्य आ जाते हैं जहाँ लेखक की विचार-धारा समस्त मानव-प्राकृति भावना मे स्वच्छन्द होकर प्रवाहित होने लगती है—यही विश्वजनीनता की साधना है।

प्रेमचन्द की भावना तथा कला के आन्तरिक परीक्षण के पश्चात् उनकी कला की वाह्य रूप-रेखा पर भी विचार करना आवश्यक है। स्थूल रूप से उनकी कला वर्णन-प्रधान है। समस्त कृतियों मे वर्णन एक स्थायी तत्व है जिस पर सारी घटनाये, सारे पात्र और सारी समस्याये

अवर्तन करती हैं। बंगला में बॅकिम के वर्णन मे एक परिपूर्ण विशेषता है किन्तु प्रेमचन्द मे वर्णन का वह रूप नही। बकिम का वर्णन चरित्र-चित्रण के आधार पर चलता है और प्रेमचन्द का चरित्र-चित्रण वर्णन के आधार पर। वास्तव में चरित्र-चित्रण ही उपन्यासकार का साध्य है, प्रेमचन्द का चरित्र-चित्रण सश्लिष्ट एव पूर्ण नही हो पाया किन्तु वर्णन-प्रधानता मे वे ड्यूमा के साथ हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि वर्णन मे भी प्रेमचन्द हृदय-सघर्ष के कलाकार नही, जीवन-सघर्ष के स्थूल पहलू के सफल चित्रकार है। इसी मे वे बहुत ऊँचे हैं। उनके कुत्सित परिस्थितियो के वर्णन मे भी जो समझदारो का-सा-सयम है, विदेही की-सी जो उदासीन उपेक्षा है उसे कुछ लोग उनकी आदर्शात्मक उज्ज्वलता की अपेक्षा कलात्मक श्यामलता भी कह सकते। ठीक भी है, कला इतनी प्रबधित वस्तु नही जो वास्तविक सत्य का नाम सुनकर उदासीन और आवद्ध रह सके। आदर्श की एक सीमा होती है, वह मनुबाबा की नियमावली नही है। अँग्रेजी उपन्यासकार हार्डी तथा लारेन्स यथार्थवादी हैं पर उसी परिमाण मे जिसमे प्रेमचन्द आदर्शवादी हैं।

ग्राम्य-जीवन के जितने सरस तथा हृदय-ग्राही वर्णन प्रेमचन्द ने दिये है वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। प्रत्येक देश की संस्कृति अमिट रूप से परम्परागत होती हुई गावो मे सुरक्षित रहती है। एक बार अनातोले फ्रास से एक जर्मन ड्यूक ने कहा—"महाशय मैं अपने देश से फ्रेंच-संस्कृति एवं सभ्यता का अध्ययन करने आया हूँ; पर दो साल तक पेरिस मे रहते हुये भी मै जैसा आया था वैसा ही हूँ"। अनातोले फ्रास ने उत्तर दिया—"महाशय, यह आप को किसने बताया कि आप पेरिस मे रहे और फ्रेंच सस्कृति का अध्ययन करे। क्या आप को स्मरण नही कि किसी देश की सस्कृति के अध्ययन करने का एक मात्र विद्यालय उसके गाँव हैं। आप कृपया किसी देहात मे जाकर रहे"। अतः ग्राम-

आधुनिक

जीवन का चित्रण तथा वर्णन करते हुये प्रेमचन्द भारतीय सस्कृति के मूल तक पहुँच गये हैं। आधुनिक कथासाहित्य मे, प्रेमचन्द देश की सस्कृति के सच्चे पुरोहित हैं।

यही कारण है कि समन्वय, सरसता और जीवन की सरलता प्रेमचन्द की अपनी चीज है। वे सरल हैं, उनके जीवन-सम्बन्धी विचार सरल है और उनकी कल्पना बोधगम्य और सरल है। कही भी दुरूहता और जटिलता की छाया उनमे नही है क्योकि उनके पात्र, उनका वातावरण और उनकी भावना सभी सहज-सरल हैं। अत्यन्त सरलता से उनकी कथा-वस्तु का आरम्भ होता है, सरलता से उसका विस्तार होता है और उसकी समाप्ति भी सरलता से ही होती है। कार्यों द्वारा आत्माभिव्यक्ति का चित्रण भी कही-कही प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' और 'रगभूमि' मे करने की चेष्टा की है। उपन्यासो के अन्य उपकरणो की भॉति उनकी भाषा का भी शृगार सरलता है। साधारण बोलचाल की भाषा में ही उनके जीवन-विज्ञान-विश्लेषण प्रसूत हुये हैं। भावो और पात्रो के अनुकूल भाषा, उनकी कृतियो की यथार्थ-सृष्टि की अमूल्य साधना है। उनकी भाषा उपन्यासो के लिये आदर्श है। वे आधुनिक कथा-सहित्य के उद्भावक हे।

आज वे अकाल-मृत्यु की गोद मे विश्राम कर रहे हैं किन्तु उनकी वाणी हिन्दी के लिये अमरनिधि है। विश्व-कथा के सन्मुख ऑखे उठाने का आत्मबल हिन्दी को प्रेमचन्द की देन है, इसे इकार करना अपने हित पर कुठाराघात करना है। मन जिस वस्तु को ऑखो द्वारा देखता है, भाषा यदि इन्द्रियस्वरूप बनकर उसको दिखा सके तो साहित्यकार का काम समाप्त हो जाता है। प्रेमचन्द का साहित्य एक नवीन ऑख बनकर हमे अपने देश का दर्शन कराता है जो सच्चा और सजीव है। प्रेमचन्द की यह सफलता सात्विक और स्तुत्य है। अपने निकट जीवन के प्रति कलाकार की आत्मीयता ही उसकी अमरता की

द्योतक है, और इस कला में प्रेमचन्द अन्यतम हैं, यह निर्विवाद है। प्रेमचन्द के नाम के साथ स्टिवेन्सन के शब्द चिरकाल तक गूँजते रहेंगे—

सत्य अपनी सात्विकता की किसी सीमा मे पहुँच कर यदि हमें सहानुभूति की भावना अथवा मनुष्यता की ममता से वञ्चित रखता है तो वह हमारे लिये असत्य है।

वास्तव मे प्रेमचन्द की कृतियाँ भारत की पीडित नागरिकता का अट्टहास और सूखी हड्डियो वाले नगे-भूखे किसानो से सकुल ग्रामीणता की आकुल आह है। प्रश्न यह नही कि प्रेमचन्द ने क्या लिखा? जिस समय वे हिन्दी मे आये उस समय हिन्दी का कथा-साहित्य क्या था? और आज वह क्या नही है? के प्रश्नो के समाधान मे प्रेमचन्द की महत्ता घनीभूत है। इसी मानवता प्रेमी साहित्यक फरहाद ने, अपना सिर फोड कर पत्थर से साहित्य के दूध की धार प्रवाहित की है। इसमे सन्देह नही है।

———

आधुनिक

प्रसाद्

साहित्य मे प्रसाद् जी सदैव अतीत के सम्पन्न आँचल की ओट से अभिव्यक्त हुये हैं, यहीं तक वे जीवन के कवि हैं। कवि की कल्पना चिर संगिनी है किन्तु द्रष्टा को कल्पना का साथ छोड कर अनुभूति का (वास्तविक) का साथ देना पडता है। समाज के लिये साहित्य की यही सब से बडी देन है। वास्तविकता का अर्थ इन्द्रिय-ग्राह्य सासारिक सत्य होगा इसे स्मरण रखना चाहिये। जिसे हम आँखो से देख कर उसका दर्शन लाभ कर सकते हैं, उसके कोमल-कठोर स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं, तर्क और बुद्धि से परीक्षित प्रामाणिकता का आरोप कर सकते हैं—वही हमारे लिये वास्तविक है।

इसके परे भी एक स्थिति है, चाहे हम उसे मानसिक कहे, आध्यात्मिक कहे या मनोवैज्ञानिक कहे, उसका अस्तित्व अक्षुण्ण है। यथार्थ और आदर्श की सीमाये भी इसी सत्य से अनुप्राणित हैं। आदर्श की सम्भावनाये जीवन को गति देती हैं और यथार्थ की, जीवन को दौड़ (व्यायाम)। आज का सारा ससार जैसे मारमार कर सैनिक बनाया गया है। जीवन मे चलने, दौड़ने दोनों की आवश्यकता है, ऐसे ही यथार्थ और आदर्श की।

साहित्य का मर्मी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो के विश्लेषण से उतनी ममता नहीं रखता जितनी उनके समन्वय की सुरुचि से। प्रसाद जी साहित्य की इसी श्रेणी के मनीषी हैं। आध्यात्मिक दर्शन और भौतिक दर्शन के समीकरण से जीवन की जिस दिशा का उन्होंने सकेत किया है, उसे अवास्तविक कहना सम्भव नही। आदर्शोन्मुख साहित्य जीवन को गति और उत्कर्ष दोनो देता है, इस विचार से प्रसाद आदर्शवादी हैं।

कथासाहित्य

उन्होंने साहित्य मे यथार्थ की स्थिति का मानसिक संस्कार किया है। जमीन पर पैर टेक कर आकाश का कवि-अवलोकन किया है। यथार्थवादियो की अदूरदर्शिता जब जीवन की गति की तीव्रता मे स्थिति की उपेक्षा कर जाती है तब भी आदर्शवादी की साधनाशील सम्भावनाये गति के साथ स्थिति का समर्थन करने की शक्ति रखती हैं। ऐसी सम्भावनाओ को असत्य नही कहा जा सकता, अन्यथा जीवन, जीवन न रह कर यंत्र मात्र रह जावेगा। साहित्य न तो आध्यात्मिक दर्शन का 'बृह्म सत्य जगन्नमिथ्या' लेकर चल सकता न आधुनिक भौतिक दर्शन का 'न केवल जगत् वरन् जगत् ही सत्य', का सम्बल ग्रहण कर सकता। उसे तो दोनो के बीच की सचाई ग्रहण करनी है।

'कामायनी' मे प्रसाद की इस चेतना का दर्शन हमें काव्य के माध्यम से होता है और 'ककाल' मे सामाजिक निरूपण से। प्रसाद दोनो जगह आधुनिक युग मे अकेले हैं। 'ककाल' का सामाजिक दृष्टिकोण भारत का ही नही विश्व-मानवता का भावी दृष्टिकोण है। द्रष्टा को इसी कारण त्रिकालदर्शी कहा गया है, यो भी व्यतीत (अतीत) और व्यक्त (वर्तमान) की स्थिति भविष्य में अपना विकास करेगी, भाव-योगियो से यह छिपा नही। भारतीय सस्कृित और आध्यात्म के आधार से व्यक्ति और समाज का, यथार्थ और आदर्श का, स्थूल और सूक्ष्म का जो सुन्दर स्वरूप 'कंकाल' के द्वारा ससार के सामने रखा गया है वह व्यक्ति और समाज को दूध और पानी की तरह अपने मे मिलाये हुये है। उनके चरित्र, शरीर कम और शक्ति अधिक हैं। देश की सामाजिक स्थिति और विकृति का ही चित्रण 'कंकाल' मे नही है, धार्मिकता की भी धज्जियाँ उडाई गई हैं। सब से बडी विशेषता उसका भारतीय वातावरण है। समाज के एक विशेष स्थिति के पात्र इस विचार-धारा के वाहन हैं, उन्ही के द्वारा इस सत्य की प्रतीति पुष्टि पाती है।

आधुनिक

'कंकाल' के सामाजिक विचार, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर एक गहरा अध्ययन उपस्थित करते है। इसका कारण है। प्रसाद जी जीवन मे आनन्द के उपासक और उद्भावक हैं और प्रेम उनका आधार है। अतः प्रेम का स्वस्थ ऊष्ण स्पन्दन उनकी कृतियो मे अवश्यम्भावी रहता है। 'कंकाल' में प्रेम के दो सामाजिक विभाग हैं; विवाहित और अविवाहित। इसके प्रायः पात्र जारज (वर्णशंकर) हैं।

उपन्यास की नायिका तारा और नायक विजय दोनों ही जारज हैं और तारा का पुत्र भी जारज है। पात्रो का चुनाव बहुत ही प्रगतिशील है, सन्देह नही। समाज मे विवाह एक समझौता है, यदि वह अपना स्वरूप बदल कर जीवन को पगु बना देने वाला बन्धन बन जाय तो क्या व्यक्ति उसे तोड देने के लिये तैयार न हो जायेगा ? भारतीय समाज मे विवाह की यही स्थिति है। 'विजय' के माध्यम से नवयुग की चेतना जैसे बोल उठी है—"घन्टी ! जो कहते है अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृखल है, वे भ्रान्त हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो व्याह है। मै सर्वस्व तुम्हे अर्पण करता हूँ और तुम मुझे, इसमे किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यो ? मन्त्रों का महत्व कितना ? झगडे को विनिमय की यदि सम्भावना रही तो वह समर्पण ही कैसा ? मै स्वतंत्र प्रेम की सत्ता को स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या" ? आज का समाजवादी भी तो यही कहता है।

व्यक्ति स्वात्रत्य की इस सामाजिकता के साथ प्रसाद जी उसका राजनीतिक पहलू भी सामने रखते हैं। "प्रत्येक समाज मे सम्पत्ति, अधिकार और विद्या ने भिन्न देशो मे जाति वर्ण और ऊँच नीच की सृष्टि की। जब आप उसे ईश्वरकृत विभाग समझने लगते हैं तब यह भूल जाते हैं कि इसमे ईश्वर का उतना सम्बन्ध नही जितना उसकी विभूतियों का। कुछ दिनो तक उन विभूतियो के अधिकारी बने रहने पर मनुष्य के संस्कार भी वैसे ही हो जाते हैं और वह प्रमत्त हो जाता

है। प्राकृतिक ईश्वरीय नियम विभूतियो का दुरुपयोग देखकर विकास की चेष्टा करता है, वह कहलाती है, उत्क्रान्ति। उस समय केन्द्रीभूत विभूतियाँ मानव-स्वार्थ के बन्धनो को तोड़कर समस्त भूतहित बिखरना चाहती हैं। यह समदर्शी भगवान की क्रीड़ा है"। इसीलिये 'भारतसंघ' सर्व-साधारण के लिये मुक्त है, वह वर्गवाद, धर्मिक पवित्रतावाद, आभिजात्यवाद, इत्यादि अनेक रूपो मे फैले हुये सब देशो के भिन्न-भिन्न प्रकार के जातिवादो की अत्यन्त उपेक्षा करता है। यही व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता है।

व्यक्ति-स्वात्रंत्य के इस उद्बोधन मे स्त्री-पुरुष का भेद-भाव नही पाया जाता। उपन्यास की मूल धारणा का आधार स्त्री-पुरुष सम्बन्ध ही है। इसके द्वारा लेखक ने सुन्दर-असुन्दर सत्य के दोनो स्वरूपों का विषद विवेचन किया है। उपन्यासो के पात्र केवल आदर्श की आकुलता से सचालित नही होते, वे यथार्थ का भी स्पर्श करते हैं। सभी पात्र हमी-आप मे से लिये गये हैं, उनमे साधारण मनुष्यो की महानता और हीनता, दोनों के दर्शन होते हैं। यदि अपवादो को छोड दिया जाय तो आज का सामाजिक प्राणी पतन की ओर अधिक उन्मुख है। भारतीय स्त्री अपनी हृदय की दुर्बलता और पुरुष स्वार्थ की क्रीडा का शिकार है। इसके उद्घाटन मे प्रसाद नितान्त यथार्थवादी हैं किन्तु अल्ट्रारियलिस्ट की भाँति वे मर्यादा का उल्लघन नही करते। नाटकों मे प्रसाद ने प्राचीन भारत की महत्ता का निदर्शन किया है और उपन्यासो मे अर्वाचीन भारत की सामाजिक विपन्नता का।

प्रसाद के नाटकों की समालोचना करते हुये प्रेमचन्द ने लिखा था कि इन पुरानी बातो से देश का क्या लाभ होगा? गडा मुर्दा उखाड़ने से क्या कल्याण? इन प्रश्नो का उत्तर प्रसाद ने अपने उपन्यासो के द्वारा दिया है। उनके उपन्यासो के सभी पात्र समाज के अभिशाप से संतप्त और व्यक्ति के विकास की आस्था से आस्वस्त हैं। पात्रों की

आधुनिक

जीवन-लीला का परिवेक्षण करने के पश्चात् सामाजिक कुरीतियो के प्रति घृणा का भाव उभाडने में लेखक ने कमाल हासिल किया है। उपन्यासो के निष्कर्ष नवयुग के पोषक है। पात्रो की बातचीत मे नवयुग के अंतःकरण से निकली हुई वाणी की प्रतिध्वनि प्रत्यक्ष हो उठती है। जिसमें प्रेम को व्यवसाय के ऊपर स्थान दिया गया है और व्यापारिक विवाह की भावना पर जिसने हमारे जीवन को मृतक सा बना दिया है कुठाराघात किया गया है। स्वतंत्र प्रेम की सम्भावना तभी हो सकती है जब स्त्री-पुरुष दोनों स्वतन्त्रता का अनुभव करेगे। स्वतन्त्रता का आधार उच्छृखलता नही, संयम है।

इसी के सुदृढ आधार पर खडा होकर 'कंकाल' मे समाज से विद्रोह के साथ लेखक, व्यक्ति की निवृत्ति-साधक सस्कृति की अव्यावहारिकता पर भी अपना आक्रोप प्रकट करता है। इस प्रकार 'ककाल' स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की व्यावहारिक स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत विकास की कर्मठ प्रेरणा का शक्तिशाली आयोजन करता है। उसका कला पक्ष सौन्दर्यमय और निर्माण-पक्ष व्यक्तिमय है। किसी भी सामाजिक संस्था, प्रणाली या व्यवस्था मे उसकी आस्था नही है। उसका दृष्टिकोण एकान्त व्यक्तिवादी या एनार्किस्ट है। प्रसाद और प्रेमचन्द के समाज में मूलतः कोई अन्तर नही किन्तु प्रेमचन्द ने उसकी ऊपरी सतह का विवेचन अधिक किया है और प्रसाद ने उसकी अन्तरात्मा को स्पर्श करने की चेष्टा की है। प्रेमचन्द की गति वहाँ नही, वे सामाजिक व्यवस्था के आगे नही बढ़ सके किन्तु उनके बहुत आगे जाकर समाज की रूढ पद्धति को तोड कर नवीन विचार स्वात्रत्य और मानवीयता का, प्रसाद ने उद्घाटन किया है। जनसत्तात्मक भावों की स्थापना प्रसाद के साहित्य मे है। प्रेमचन्द यदि आधुनिक भारतीय समाज के चित्रकार हैं तो प्रसाद आधुनिक मानवता के उद्बोधक।

कथासाहित्य

अँग्रेजी-साहित्य मे गाल्सवर्दी के नाटक,व्यक्ति पर समाज के बोझ का दुष्परिणाम दिखाते है किन्तु अर्थ-कष्ट की समस्या से आगे उनका क्षेत्र नही है। प्रसाद जी जिस समाज-पीडा का उल्लेख करते हैं वह हमारे जीवन की प्रत्येक सॅध में समाई हुई है। उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया व्यक्ति के मन मे समाजोच्छेदन के अतिरिक्त कुछ और हो ही नही सकती। व्यक्ति, अपनी शक्ति से समाज-पीडा को पार करने का उपक्रम करता है। एनार्किस्ट बेकुनिन भी शासन-सत्ता का सर्वथा विनास करना चाहता था, प्रिन्स क्रोपाटकिन की भी कुछ ऐसी ही मशा थी। प्रसाद भी सामाजिक तथा राजनीतिक-कुसंस्कारो का प्रतिकार करने के लिये व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करते हैं। यह स्वातन्त्र्य बुद्धि जन्य होते हुये भी हृदय के सस्कारो का विरोधी नही है, अधिकार पक्ष और कर्तव्य पक्ष दोनो का निर्वाह उसमे है। चरित्रो की सृष्टि स्वय समाज के प्रति व्यंगमय और व्यक्ति के प्रति कर्तव्य-मय है। जातीयता की दृष्टि से वे सब वर्णशकर है, व्यक्ति के हिसाब से सब उच्छृखल।

'ककाल' की सब से भारी विशेषता यह है कि इस पश्चमी सभ्यता से आकठमग्न युग मे भी इसका सम्पूर्ण वातावरण और विचार-पद्धति शुद्ध भारतीय है। इसी कारण उसका उद्देश्य सुधार नही, क्रान्ति है। वर्णव्यवस्था, जाति व्यवस्था, जन्म-जात अभिमान व्यवस्था आदि सभी प्रभावो मे 'ककाल' क्रान्ति की लहर फैलाना चाहता है। सामन्ती दर्शन, त्याग और सतोष का उसमे आभास नही है। 'कंकाल' हृदय-परिवर्तन और समाज-सुधार के लिये तर्क नही देता वल्कि एक सघर्ष का आयास करता है। प्रमुखतः स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के माध्यम से कथानक को गति मिलती है। उपन्यास के प्रारम्भ मे 'तारा' की उक्ति इसके औचित्य का अन्यतम उदाहरण है। "भगवान जानते होगे कि तुम्हारी शैय्या पवित्र है। कभी मैने स्वप्न मे भी तुम्हे छोड़ कर इस जीवन में किसी से प्रेम नही किया और न तो मै कलुषित हुई"। यद्यपि वह, समाज का

आधुनिक

सार्टीफिकेट विवाह के रूप में नहीं प्राप्त कर सकी थी किन्तु उसका जीवन प्रथम प्रेम की उपासना में अटल था। विवाह-बन्धन में इसकी अनुभूति क्यों ?

जहाँ एक ओर हमें प्रेम की स्वतंत्रता को स्वीकार करना पड़ता है वहाँ दूसरी ओर किशोरी और श्रीचन्द्र के विवाहित जीवन में विवाह-संस्था की अपूर्णताओं का अध्ययन करने का अवकाश भी मिलता है। पुत्र-कामना से प्रेरित किशोरी को निरंजन जैसे महान् धूर्त महात्मा की शरण लेनी पड़ती है। उपर्युक्त विवशताओं के प्रदर्शन, चित्रण में प्रसाद का उद्देश्य सामाजिक जीवन में अनियम फैलाने और वर्णसंकरता को प्रश्रय देने का नहीं है। वे तो प्रेम को अपने उच्च आसन पर बैठाने के पश्चात् जीवन को संयमित तथा नियमित देखने की आकांक्षा रखते हैं। इसी कारण मंगल और गाला को प्रेम-सूत्र में बाँधकर एक सामाजिक रूप देने की उन्होंने चेष्टा की है, जहाँ न कोई बाह्य आडम्बर है और न व्यवसाय। व्यक्तियों का यह निरूपण सम्पूर्ण मानवता की सेवा का साधन है, शिव और शक्ति का सम्मेलन है।

'कंकाल' का दूसरा दृष्टिकोण, हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति का मार्मिक चित्रण करना है। आरम्भ में गुलेनार के रूप में तारा पुरुषों के मनोविनोद का साधन थी, उसका कोई अपना अस्तित्व नहीं था वह केवल कामी पुरुषों के हाथ की कठपुतली थी। गुलेनार का जीवन अबला स्त्री के पतन की पराकाष्ठा है और तारा का समस्त जीवन अबला के रुदन का इतिहास। तारा ने केवल एक भूल की थी—"मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी इकट्ठा न कर लिया और कुछ मंत्रों से लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा लिया, पर किया था प्रेम"। इसी एक भूल के कारण तारा की सारी सामाजिकता विलीन हो गई। एक जगह यही कहती है—"हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, इसमें उनके लिये कोई अधिकार हो तब

तो सामाजिक

तो सोचना विचारना चाहिये। और जहाँ अध-अनुसरण करने का आदेश है, वहाँ प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है···उसे क्यो छोड़ूँ ? स्त्रियो को भरना पड़ता है, तब इधर उधर देखने से क्या ? 'भरना है', यही सत्य है, उसे दिखाने के आदर से व्याह करके भरा लो या व्यभिचार कह कर तिरस्कार से"। जमुना का कथन भी कम महत्वपूर्ण नही है—"कोई समाज स्त्रियो का नही बहन ! सब पुरुषो के हैं, स्त्रियों का एक धर्म है, आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिये यही पूर्णता बता दी है"। प्रसाद ने कई स्थलो पर स्त्री-पुरुषो की असमानता पर कठोर व्यग किया है—पुरुष उन्हे इतनी शिक्षा और ज्ञान देना चाहते है जितना उनके स्वार्थ मे बाधक न हो, घरो के भीतर अधकार है, धर्म के नाम पर ढोग की पूजा है और शील तथा आचार के नाम पर रूढिओ की। बहने अत्याचार के पर्दे मे छिपाई जा रही हैं। नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है।

इस प्रकार प्रसाद ने सामाजिक असमानताओ, कुरीतियो और धार्मिक दुर्व्यवहारो के प्रति घृणा उत्पन्न करके उस नये पथ का भी संकेत किया है जहाँ से मनुष्य मात्र नवजीवन का प्रसार और प्रचार कर सकता है। इसके लिये झूठी महत्ता का त्याग करके वर्गवाद और जातिवाद को जड से उखाड कर फेक देना होगा। स्त्रियो को उनके उचित अधिकार देकर उनके साथ न्याय करना होगा। 'भारत-सघ' की स्थापना का यह उद्देश्य स्मरणीय है—"घरो के पर्दे की दीवारो के भीतर नारी जाति के सुख स्वास्थ और सयत-स्वतत्रता की घोषणा करे। उनमें उन्नति, सहानुभूति, क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश फैलाये। हमारा देश इस सदेश से—नवयुग के सदेश से—स्वास्थ लाभ करे। आर्य ललनाओ का उत्साह सफल हो, यही भगवान से प्रार्थना है"। यही भारत के उज्ज्वल भविष्य का आदर्श है। इसी पर समाज की नीव पड सकती

आधुनिक

है। 'ककाल' का मुख्य सन्देश है—स्त्रियों का सम्मान करना, उनकी समानता को स्वीकार करना और धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों को सक्रिय विरोध के द्वारा रोकना। जातिवाद, वर्गवाद और धार्मिक संकीर्णता के ऊपर स्त्री-पुरुष के नैतिक आभिजात्य और उसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन पानी मे तेल की तरह उतराता है। वास्तव में 'कंकाल' जागरण युग की श्रेष्ठ साहित्यिक कृति है।

विचारो की इस महत्ता के बाद 'ककाल' को उसकी औपन्यासिकता के दृष्टिकोण से भी देखना अनुपयुक्त न होगा। यह एक घटना प्रधान उपन्यास है, बहुत सी घटनाये घटती हैं। देवनिरजन और किशोरी की एक कथा है, मंगल और तारा की एक दूसरी। दोनो कथाओ को कुशल चित्रकार की भाँति, रगो को मिलाने की चेष्टा है। इसके भीतर दो तीन उपकथाये भी हैं। इस कारण इसकी कथा-वस्तु मे एक शिथिलता है, विशृंखलता है, सारी कथा एक कथानक का विकास नही है, एक दूसरे का सम्बन्ध घटनाचक्र द्वारा होता है। हमे यह नही भूलना चाहिये कि प्रसाद सब से पहले कवि हैं बाद को कुछ और। उनकी कृतियो मे काव्य की भावात्मकता अनिवार्य है, 'ककाल' भी इसका अपवाद नही। प्रगतिशील ओजमय विचारो की काव्य-लडियाँ 'ककाल' में यत्रतत्र फैली हैं, उनके सगठन से प्रसाद के महान् व्यक्तित्व का पता चलता है और हम सभी उनकी शक्तिशाली प्रतिभा के कायल हो जाते हैं, पर कानो मे जैसे धीरे से कोई कह जाता है—'काश कि 'ककाल' भी काव्य होता'!

विचारो के महत्व से नही, किन्तु कथानक की सुसंगति और स्वाभाविक विकास की दृष्टि से 'तितली' अधिक सफल उपन्यास है। 'तितली' एक ग्राम का चित्र है, इसमे एक ग्राम के दो प्राणियो के चारों ओर सारा चक्र चलता है। बंजो अ,र मधु अर्थात् तितली और मधुवन इसके प्रधान पात्र हैं। तितली का स्वभाव ही मधुवन मे नृत्य

करना है और बाकी सब पात्र इस नृत्य के दर्शक हैं। इन्द्रदेव, शैला, माधुरी, स्वरूपकुमारी और अनवरी आदि नगर से आते हैं और लौट जाते हैं। 'ककाल' मे घटनाओ की प्रधानता है और 'तितली' में कथा का प्राधान्य है।

इसे यो भी कहा जा सकता है कि 'ककाल' का कथानक घटनाओ से बनता है और 'तितली' की घटनाये कथानक से बनी हैं। 'ककाल' के पात्र कुछ दार्शनिक विचित्रता लिये हैं किन्तु 'तितली' के सभी पात्र स्वाभाविक है। 'ककाल' के गोस्वामी जी और 'तितली' के वनजरिया वाले बाबा जी मे अद्भुत् साम्य है। 'तितली' मे प्रेमचन्द के उपन्यासो 'रगभूमि', 'गोदान' के सभी प्रसगो का समावेश मिल जाता है किन्तु सत्याग्रह-आन्दोलन का स्पर्श प्रसाद ने नही किया। चरित्र-चित्रण, कथावस्तु का विकास और उसका नाटकीय निर्वाह 'तितली' की अलग विशेषता है। पात्रो के मानसिक घात-प्रतिघात का विश्लेषण इसमे प्रेमचन्द से अधिक है। जीवन-यात्रा के वाह्य उपकरणो का प्रसाद ने उतना ध्यान नही रखा जितना आन्तरिक अवस्थाओं का। 'तितली' मे आज के भारतीय नर-नारी का यथार्थ चित्रण है।

प्रेम सम्बन्धी विविध प्रश्नों का उद्घाटन प्रसाद ने किया है, उत्तर की उतनी आकुलता नही दिखाई। शायद प्रसाद को मालूम था कि समाज की अधिकाँश समस्याये नित्य हैं। प्रसाद का जीवन नगर में बीता है पर 'तितली' में ग्रामो की ओर उनका झुकाव स्पष्ट है। फिर भी ग्राम-जीवन का चित्रण इसमे उतना सफल नही, जितना सफल ग्राम-सुधार की समस्याओ का स्पष्टीकरण। मधुवन ग्रामीण निवासी के रूप मे बहुत खरा उतरता है। 'तितली' मे स्त्रियो के चरित्र पर लेखक ने विशेष ध्यान दिया है। प्रसाद की नारियॉ प्रायः दुर्बल हैं किन्तु अस्वाभाविक नहीं। जिस भॉति शेक्सपियर की नारियाँ पुरुषों के कल्याण

का कारण बनती हैं उसीप्रकार प्रसाद की स्त्रियाँ पुरुषो के अंधकारमय जीवन में प्रकाश की रेखा का काम करती हैं।

स्त्रियो मे 'तितली' का चरित्र बहुत ही शक्तिशाली है। वह पर्वत सी अटल, सागर सी गम्भीर और पृथ्वी की तरह सहिष्णु है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का 'तितली' मे भारतीय आदर्श है। प्रसाद जी ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की उत्तम अवस्था, विवाह ही को माना है। पुरुष और स्त्री का समाज मे स्थान और सम्बन्ध इस उपन्यास की मूल चेतना है। चरित्रो के विकास में प्रसाद ने नियति को स्वीकार करके एक बहुत बडी बाधा उपस्थित कर दी है। सभी पात्र किसी अव्यक्त सूत्रधार की डोरी द्वारा कठपुतली की तरह नॉचते फिरते है, करना चाहते हैं कुछ और, कर जाते हैं कुछ और। यह पात्रो की बिडम्बना है।

प्रसाद के उपन्यासो के उपर्युक्त विवेचन से हम सहज ही इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि दोनो ही उपन्यास नारी जाति की निरीह पुकार हैं। इसके लिये प्रसाद को कभी उपदेशक बनकर सामने नही आना पडा। चरित्रो की गतिविधि से स्वय पाठको को स्थिति विशेष से राग या विराग पैदा हो जाता है। किसी एक आदर्श का अभाव आदर्श की कल्पना कराने मे समर्थ होता है, यह लेखक का अपूर्व कौशल है। उपन्यासकार की हैसियत से भी प्रसाद आधुनिक युग मे किसी से कम नही क्योकि उपन्यासो मे विचारो की उस प्रगति का उन्होने समर्थन किया है जिसे भावी युग अपना कंठहार बना कर गौरवान्वित होगा। इसमे मुझे सन्देह नही।

प्रसाद के उपन्यासो मे चित्रोपम सार सूक्तियाँ, आधुनिक समय की भिन्नमुखी जीवन समस्याये, भारतीय सस्कृति की योजनाये, उनकी सहज भाव प्रवणता के माध्यम से सामने आकर एक अप्रत्यासित आकर्षण की सृष्टि करती हैं। भावो के सचरण मे वे सिद्धहस्त भावयोगी हैं। अध्ययन और अनुभव की सपन्नता के सयोग से भावनाओ की जिस

कोमलता कठोरता का प्रसाद ने उद्घाटन किया है, वह इस संसार की विपन्नता ग्रस्त स्थिति में, एक मनोरम विश्रामस्थल की भाँति शान्ति का सन्देश देने में अचूक है। मनोभावो के आन्दोलन से प्रभावित, तन-मन की प्रत्यक्ष स्थिति के शब्द-स्वरूप देने में प्रसाद बेजोड़ हैं। उनके उपन्यासो का यही साध्य है।

'इरावती' नाम का उनका अधूरा उपन्यास भी प्रकाशित हो गया है। उसके प्रकाशित अंश को पढ़ने से पता चलता है कि प्रसाद जी इस उपन्यास मे एक नवीन कथा-चेतना का आयोजन करने वाले थे।

आधुनिक

निराला

प्रसाद की भाँति निराला भी आधुनिक साहित्य की महान शक्ति हैं। उनकी प्रतिभा विविधतामयी है। नाटक को छोडकर साहित्य के सभी अगो को निराला जी ने अपनी प्रतिभा का दान दिया है। निराला का मूल सस्कार सास्कृतिक है। वे साहित्य-सृजन के साथ उसकी विवेचना मे भी अभिरुचि रखते है। आत्मबल की दृढता और भारतीय दर्शन की सूक्ष्मता उनके साहित्य का स्वभाव है, किन्तु ज्ञानीदार्शनिक की अपेक्षा वे भावात्मक आकर्षण के अधिक निकट हैं। उनके साहित्य का यह जीवनोपयोगी आकर्षण उन्हे कोमलता और मधुरता की अपेक्षा शक्ति का उपासक बनाने मे सहायक हुआ है, इसमे सन्देह नही।

शक्ति-सगठन मे भावना की अपेक्षा बुद्धि की अधिक आवश्यकता रहती है, स्वभावतः निराला का साहित्य बुद्धि की विशिष्टता से सुसज्जित है। इसका यह आशय नहीं कि उनके साहित्य मे भावना का उत्कर्ष नहीं। दार्शनिकता के विस्मरण मे निराला भावना के जिस मार्मिक स्पर्श का उद्घाटन करते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। भावना की उच्चता के लिये उनका काव्य और बौद्धिक जिज्ञासा के लिये उनका गद्य पाठनीय है। करुणा, निराला के साहित्य की चिरसगिनी है जो उनके व्यक्तित्व की तटस्थता से और भी अधिक करुण बन गई है। जीवन-सौन्दर्य की कल्पना ने करुणा से धुलकर निराला के साहित्य में जितना निखार पाया है उतना अन्यत्र कही नही मिलता। सम्भवतः इसी कारण उनके पूरे साहित्य मे पाठको को रंग कम और प्रकाश अधिक मिलता है। कहने की आवश्यकता नही कि उनके साहित्य का यह प्रकाश ओज और सौहार्द से समन्वित है।

कथासाहित्य

निराला के कथा-साहित्य की ओर अभी तक लोगों ने कम ध्यान दिया है, शायद इसका कारण उनके साहित्य-क्षेत्र की अपरिमितता है। यो भी इधर कुछ वर्षो से कवि और काव्य का ही हमारे साहित्य मे महत्व रहा है, और कथा-साहित्य एक उपेक्षणीय अवस्था का शिकार। सतोष का विषय है कि अब इस ओर भी लोगो का ध्यान गया है। कल्पना से जीवन की ओर, भावना से विचारो की ओर बढना स्वाभाविक भी है। 'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती', 'निरुपमा', 'कुल्लीभाट' 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि निराला की औपन्यासिक रचनाएँ हैं। 'चमेली' उपन्यास का एक परिच्छेद 'रूपाभ' में निकला था। इसके अलावा उनकी कहानियो के भी कई सग्रह निकल चुके हैं। 'सुकुल की बीबी' तथा 'गजानन्द शास्त्रिणी' उनके सफल व्यगमय जीवनचित्र हैं।

निराला जी की, सभी उपन्यासो में नारी-चित्रण एक विशेषता है। वर्तमान युग के नारी-जागरण को निराला ने अपनी औपन्यासिक ममता दी है। इस जागरण (क्रान्ति) की आवेग-अन्धता को छोडकर निराला ने उसके स्थायी तत्त्व की अधिक छान-बीन की है। प्रेम के आधार-स्वरूप आत्म-समर्पण ही नारी-जीवन की सार्थकता है। नारी-प्रकृति परिचालित इसी प्रेम के निराला चित्रकार हैं। शिक्षा, सस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ प्रेम को सुदृढ स्वरूप देने का निराला ने प्रयत्न किया है। यही कारण है कि प्रेम की आधुनिक दुर्बल विकलता और विह्वलता की अपेक्षा उनकी कृतियो मे हमे प्रेम की सौम्यता (आध्यात्मिकता) का आग्रह अधिक मिलता है और अन्य विषय केवल प्रासगिक बनकर अपनी उपस्थिति देते से जान पड़ते हैं। उनका उद्देश्य जीवन-व्यापी स्नेह-भावना का संगठन है, न कि उसकी विकृतियों का उल्लेख। वे जीवन की मूल चेतना का उत्कर्ष चाहते हैं, उसके अपकर्ष की व्याख्या से उनका सबध नही। निराला की सबसे बड़ी

विशेषता उनकी शृंगारिक शिष्टता है, क्योंकि शृंगार के किसी स्थलों से हमे उनके मानसिक दौर्बल्य के दर्शन नही होते—वासना की मुक्ति-मुक्ता भी त्याग मे तागी दिखाई पडती है।

निराला की सभी नायिकाएँ उनके भाव-जगत् की प्रतिमाएँ हैं, इसीलिये वे रोमान्टिक भी हैं। अपने भाव के इसी विस्तार के लिये निराला ने कुछ विशेष घटनाओ की भी योजना की है, जो प्रतिदिन की घटनाओं से कुछ भिन्न और विचित्र सी भी लगती हैं, किन्तु जीवन के रहस्यमय विकास की उनमे कमी नहीं। प्रसिद्ध रोमान्टिक लेखक स्टीवेन्सन का जो महत्त्व है, निराला का उससे कम नही, क्योकि भावना की उसी मृदुता का मोह उन्हे भी है। निराला के उपन्यासो को पढ़ते समय हमे स्मरण रखना होगा कि वे कवि पहले हैं, उपन्यासकार बाद मे। कवि की जो सामाजिक तथा राजनीतिक भावनाएँ कविता मे अपनी प्राण-प्रतिष्ठा कर सकी वे ही एक समस्या के रूप मे उपन्यासो मे उतर आई हैं।

समाज-सुधार के प्रश्न को लेकर वेश्या की मार्मिक करुण स्थिति और उसके उत्थान का चित्र निराला ने 'अप्सरा' मे खीचा है। राजनीति के क्षेत्र मे वे गाँधी का आदर्श अनुपयुक्त समझते हैं। उसमे उन्हें किसानों के हितसाधन की सभावना नही दिखाई देती, जनता के उत्कर्ष का विश्वास नही होता, क्योकि नेताओ मे उन्हे आडबर का आधिक्य और सत्य की क्षीणता दिखाई पड़ती है। उनके सामने एक दूसरे प्रकार के किसान-कार्यकर्त्ताओ का आदर्श है, जिसके दर्शन हमे 'अलका' मे मिलते हैं। गाँधी की महानता और उनके देश-प्रेम से किसी का कोई विरोध नही हो सकता, किन्तु मानवता के कल्याण के लिये अन्य मार्गों का सकेत कोई अपराध भी नही है, क्योकि उद्देश्य मर्ज का अच्छा करना है, नकि वैद्य विशेष की दवा करना। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली को, बेकारी बढ़ाने वाली सस्था कहने वाले को हम शिक्षा का विरोधी नहीं

कहे सकते। इसीप्रकार देश-हित की गाधीवादी भावना के अतिरिक्त अन्य भावना को हेय नही कहा जा सकता, क्योकि किसी भावना के भीतर प्रवाहित प्राण-चेतना ही परीक्षणीय होती है, वाद विशेष नही।

हिन्दी साहित्य मे प्रसाद और निराला अतीतकालीन भारतीय संस्कृति के बहुत बड़े हिमायती हैं। वास्तव मे कलाकार को अतीत के ज्ञान और भविष्य के उत्थान-अनुमान के साथ वर्तमान का संचालन करना पडता है। निराला ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'प्रभावती' मे भारतीय सस्कृति के पुनरुत्थान का दिशा निर्देश करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि आज का युगधर्मी साहित्यकार एक आवेग की आकुलता मे अतीत के प्रति उदासीन-सा हो रहा है, तथापि यह स्मरण रखना होगा कि कोई भी मानवीय नव-विधान अपने अतीत की उपेक्षा नही कर सकता। अतीत की त्रुटियो और विवशताओ की पृष्ठिका पर ही तो वर्तमान का संशोधित निर्माण होता है। धनुष पर चढा बाण जितना ही अधिक पीछे खीचा जावेगा उतना ही अधिक गतिशील होकर वह लक्ष्य की ओर अग्रसर होगा। युग-साहित्य भी अतीत की सीमा-रेखा से ही अपनी गति का सचालन करेगा। साहित्य में जीवन-प्रद तत्त्व कभी पुराने नही पडते। भारत का एक सास्कृतिक उज्ज्वल अतीत है, जो वर्तमान की गतिविधि में सहायक हो सकता है। निराला ने इस तत्त्व का प्रभावपूर्ण उद्घाटन किया है।

भारतीय संस्कृति के प्राणो का एकत्व, समत्व और प्राणी-मात्र के ममत्व का भाव उनकी कृतियो की सबसे बड़ी विशेषता है। निराला जी के उपन्यासो मे उनके कवि का ही प्राधान्य है, क्योकि उनमे वे प्रेम की गाथाओ का ही अनुसधान करते हैं। कमल-पत्र मे जल की भाँति उनका निर्लिप्त-सौन्दर्यान्वेषण उनके उपन्यासो मे भी परिव्याप्त है। यही कारण है कि उनके उपन्यासो मे सौन्दर्य के अनेको चित्र, कल्पना के अनेकों रंगमय रूपक और दृश्यों के अनेको भावनात्मक स्वरूप देखने

आधुनिक

को मिलते हैं। अनेक सामाजिक राजनीतिक तथा साहित्यिक आघातो के पश्चात् भी निराला ने अपने व्यक्तित्व की कोमलता को नही छोडा, यह उनके हृदय की विशालता का प्रमाण है। स्नेह की स्निग्धता और कोमलता के बीच मे निराला ने आधुनिक जीवन की विपन्नता और कृत्रिमता के लिये जिन व्यंगो का व्यवहार किया है, उनका इतना स्वस्थ और निरपेक्ष प्रयोग अन्य किसी साहित्यकार से नही बन पडा। उनके व्यग अपने प्रभाव और मार्मिकता मे अद्वितीय होते हैं। व्यगो के द्वारा जीवन और जगत् की वास्तविक और स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण निराला की महत्त्वपूर्ण देन है। निराला ने इन व्यगो मे अपनी विद्रोह-शक्ति का समन्वय करके उनकी सार्थकता को और अधिक बढा दिया है, विशेषता यह है कि इनकी चोटे राग-द्वेष से अछूती, शुद्ध-सुभाव की समर्थक हैं।

निराला जी के उपन्यासो की दो कोटियाँ हैं। एक की दिशा जीवन की सरसता के माध्यम से उसकी काव्योचित (रोमान्टिक) स्थापना और दूसरे की चेतना भारतीय जीवन की समष्टिगत यथार्थ व्याख्या है। स्वभावतः पहले के दो उपन्यासों मे शहर के प्रेमद्वन्द्व का आधिक्य और बाद की कृतियो मे ग्रामीण जीवन की समस्याओ का उद्घाटन है। 'अप्सरा' से 'अलका' मे और 'प्रभावती' से 'निरुपमा' मे पहुँचते-पहुँचते निराला जी की कवित्वमय रोमान्टिक वृत्ति बहुत क्षीण पडती गई है, और वे भावुक कल्पना-जगत् को छोडकर जीवन के सहज व्यावहारिक धरातल पर आरूढ हो गए हैं। प्रेमचन्द की भाँति निराला के उपन्यासो का भी ग्राम-पक्ष प्रबल है। जमीदारों की निर्ममता, बेगार, लगान, कुर्की और ग्राम-सगठन की योजना आदि सभी के चित्र निराला ने दिये हैं।

'अलका' मे किसानो की अस्थिर-स्थिति का सजीव चित्रण और उनके प्रति लेखक की हार्दिक सहानुभूति प्रेमचन्द के 'गोदान' से टक्कर

लेती है। 'गोदान' के होरी और 'अलका' के बुधुआ में बहुत कुछ साम्य है, दोनो ही भारत माई के लाल हैं। निराला के उपन्यासो के कथानक और चरित्र-चित्रण के विषय मे भी दो शब्द कहना अनुचित न होगा। उनके प्रायः सभी कथानक-प्रेम की शाश्वत गति से सचालित हैं, थोड़े हेर-फेर के साथ सभी उपन्यासो मे इसका आधार मिलता है। कथानक के अनुकूल उनके चरित्र भी एक ही स्वभाव और टाइप के बन गए हैं। सभी फक्कड तबीअत, पहलवान, सर्वभक्षी और निर्भीक हैं। स्त्रियाँ सभी रूपशील तथा स्नेह-सम्पन्न और सगीतज्ञ हें। निराला का कोई पात्र बिना सगीत-कला की निपुणता के अपना विकास नही कर सकता। निराला की संगीत-प्रियता इनके जीवन की सब से बड़ी विशेषता है। कथोपकथन की नाटकीय प्रवृत्ति औपन्यासिक प्रवाह मे कभी कभी बाधा उपस्थित करती है। अप्सरा से लेकर निरुपमा तक उनके उपन्यासो का यही क्रम विकास है।

अपने नवीनतम उपन्यासो (जीवन-चित्रों) मे निराला ने यथार्थ जीवन की सहज-स्वाभाविक व्याख्या की है। 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' इस प्रगोग के प्रौढ़ और प्रोज्ज्वल उदाहरण हैं। कल्पनामय भावुकता और यथार्थ की वास्तविकता का साथ ही चित्रण करना निराला के व्यक्तित्व की महानता है। उनका जीवन स्वय सघर्ष की तपन से प्रस्फुटित और विकसित है, शायद इसी कारण वे 'जुही की कली' और 'वह तोड़ती पत्थर' दो विरोधी और भिन्नवर्णी जीवन-स्थितियो का सफल स्वरूप सामने रखने मे समर्थ हैं। उनके पिछले उपन्यास यदि 'जुही की कली' की भावना का उन्मेष करते हैं तो उनके नवीन चित्र 'वह तोडती पत्थर की वास्तविकता के अधिक निकट है। इसे यों भी कहा जा सकता है —"बनी विकलता कविता कवि की, कविता बनी कहानी"।

साहित्य मे युग-परिवर्तन और जागरण की सूचना देने वालो मे निराला का स्थान बहुत ऊँचा है। भारतीय साहित्य मे ही नही, सारे

विश्व-साहित्य में आज परिश्रम ही आराध्य और परिश्रमी आराधक हैं। स्वभावतः साधक और सिद्ध भी वही हैं। आज का साहित्य केवल कुछ जनों का न होकर जनता का हो गया है, यह बहुत ही शुभ लक्षण है। निराला ने 'कुकुरमुत्ता', 'खजोरहा' आदि कविताओं मे इस तथ्य का स्वागत किया है। गद्य रचनाओ मे 'बिल्लेसुर बकरिहा' निराला के सामाजिक यथार्थ का उज्ज्वल उदाहरण हैं। इस उपन्यास मे लेखक के व्यक्तित्व की सम्पूर्णता बड़े ही सहज भाव से सामने आई है। इसका कारण निराला की वह स्वाभाविक निरपेक्षता है जो उन्हे किसी विषय के अध्ययन की कलात्मक प्रवृति तथा प्रेरणा देती है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' निराला की स्वाभाविक सहानुभूति के साथ सजीव रूप से घुल-मिल गयी है। इसके पढने के पश्चात् लेखक की वैज्ञानिको जैसी बुद्धि-व्याख्या, दार्शनिको जैसी दूरदर्शिता और साथ ही कलाकारो जैसी सयम की उस शक्ति का भी पता चलता है जो उनके अपने विचारों की अभिव्यक्ति मे सहायक सिद्ध होती है।

निराला मानव-समाज के प्रेमी हैं, उन्हें मानव-सत्य को चीन्हने की अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त है। विशेषता यह है कि निराला मे समवेदनात्मक कल्पना की वह शक्ति भी है जो जीवन के कृत्रिम रूपो को ही नही, उसके असीम तथा अज्ञात रहस्यों को भी वास्तविक रूप मे देखने की क्षमता रखती है। 'बिल्लेसुर' के चित्रण मे निराला की इन सभी शक्तियो का सुन्दर समन्वय है। इसमे सन्देह नहीं कि निराला का साहित्य सदैव प्रगतिशील और प्रभावपूर्ण रहा है, किन्तु इधर की उनकी रचनाएँ एक सामूहिक चेतना के आधार पर ही खडी हैं। हवा, पानी और धूप लेकर ही तो अकुर का विकास होता है, अन्यथा अंकुर की सृष्टि तो सहज नही होती। निराला के भीतर बीज-रूप से निहित मानव-ममता और साहित्यिक सात्विकता अब यदि अपना सहज-स्वरूप पा रही है तो इसमे कुछ आश्चर्य नही है।

कथासाहित्य

साहित्य के प्रत्येक स्वस्थ चित्र में विषय, पद्धति और कलाकार का व्यक्तित्व रहना आवश्यक है। विषय और पद्धति के चुनाव का अधिकार एकान्त रूप से कलाकार को है, किन्तु उससे उसके व्यक्तित्व का लगाव एक व्यापक रूप रखता है; क्योकि कला मे कलाकार का व्यक्तित्व, कौतूहल, विश्वास और धैर्य के सम्बल से सयमित होकर कला को सार्वभौमिक स्वरूप देने मे सफल होता है। उसके व्यक्तित्व का यही चरमतम विकास है। इसके विपरीत जब कलाकार आत्मलीन तामसिक वृत्तियो के प्रवाह मे पडकर कला के माध्यम से आत्म-विज्ञापन करने लगता है तभी वह पराजित हो जाता है। व्यक्तिगत अभावजन्य ग्लानि और अतृप्ति का प्रदर्शन कला नही, एक बला है।

'बिल्लेसुर बकरिहा' गॉव का एक मार्मिक चित्र है। इसमे रोमान्टिक धरातल को एकदम छोडकर निराला जी ने कठोर सामाजिक यथार्थ का अनुसरण किया है। सामाजिक विद्रोह और सामूहिक असतोष का चित्रण ग्रामीण दरिद्रता के माध्यम से इतना अच्छा बन पडा है कि अभी तक हिन्दी मे वैसा अन्यत्र नही है। इस गलित ग्रामीण चित्र मे निराला जी ने सुधार का कोई सुझाव नही पेश किया, केवल वहॉ के शोषित, दलित तथा पीडित समाज का ककाल सामने रख दिया है, जिसके दर्शन मात्र से उसके प्रतिकार की भावना मन मे जाग्रत हो उठती है।

प्रेमचन्द की भॉति निराला ने सर्व-दुख-शमन का समझौता नही कराया, उन्होने केवल चित्रण के माध्यम से स्थिति मे क्रान्ति का बीज बोया है। इस दृष्टिकोण से 'बिल्लेसुर बकरिहा' एक प्रौढ़ प्रगतिशील रचना है। भाषा, भाव और उद्देश्य तीनो के दृष्टिकोण से निराला जी का यह स्केच अत्यन्त सहज-सरल और अनुपम है। बिल्लेसुर का सामाजिक सघर्ष से ऊपर उठकर अपने विवाह की सफलता का सतोष प्राप्त करना युग-चेतना का प्रतीक है। आधुनिक भारतीय गॉव का

आधुनिक

जैनेन्द्र

मध्ययुग की अपेक्षा आधुनिक युग अधिक गतिशील है। अब समय और साहित्य मे अधिक तीव्र स्फूर्ति समाहित हो गई है। आज मानव किसी पूर्व प्रतिष्ठित एकाधिकारी पर विश्वास नही करता उसे परिवर्तन के प्रति अधिक प्रतीत है। समाज के साथ वह व्यक्ति का महत्व भी स्वीकार करता है। समाजवाद के साथ व्यक्ति (अह) का भी बिस्तार उसने किया है। अस्तु यदि प्रेमचन्द समाज के चित्रकार है तो जैनेन्द्र व्यक्ति के, यह कोई आश्चर्य की बात नही। इसी कारण प्रेमचन्द गाँधी के साथ आदर्शवादी हैं तो जैनेन्द्र फ्रायड के साथ यथार्थवादी। प्रेमचन्द समाज की सामूहिक चेतना को जगाते हैं तो जैनेन्द्र व्यक्ति की आत्म-साधना को। उन्होने खुद लिखा है कि वे कोई लम्बी कहानी नही कहना चाहते, वे तो केवल दो तीन व्यक्तियो के चित्र आप के सामने रखना चाहते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि जो पिड मे है वही ब्रह्मांड मे है। समाज भी तो व्यक्तियों का संगठन है।

सामाजिक विश्वास (आदर्श) को व्यावहारिकता (यथार्थ) देने के लिये हिन्दी कथा साहित्य मे प्रथम बार जैनेन्द्र ने व्यक्ति के माध्यम से उसे अध्ययन करने की चेष्टा की, इसमे सन्देह नही। यहाँ पर इलाचन्द्र जोशी की घृणामयी (सन् २७ मे प्रकाशित) हम नही भूल सकते। प्रेमचन्द का कथा साहित्य, आदर्श की दृष्टि से जहाँ गुप्त जी के काव्य का सहयोगी है वहाँ जैनेन्द्र का आध्यात्म महादेवी की आध्यात्म-परम्परा से प्रभावित। कवि (भावना) को साहित्य का अगुआ मानने मे मुझे कोई आपत्ति नही है।

आधुनिक

समाज सुधारको द्वारा समाज की जिन कुप्रथाओ को दूर करने की चेष्टा बगाल से प्रारम्भ हुई थी उसे हमारे समाज और साहित्य ने अपना रक्खा था। प्रेमचन्द के सामाजिक संघर्ष और उनके सुधारो की योजना का भी स्वरूप कुछ वैसा ही है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति का संघर्ष समाज के प्रति सचेत किया। शरद की भॉति प्रेमचन्द ने पारिवारिक जीवन की झॉकी दी और उसे भारतीय सस्कृति, सौन्दर्य से सजाया किन्तु जैनेन्द्र ने फ्रायड की भाँति व्यक्ति का मुक्त (निरावरण) रूप समाज के सामने रखा, उसे आध्यात्म की चूनरी ओढ़ाने मे उन्होने कसर नही रखी।

प्रेमचन्द का सहित्य सुधार-मूलक है तो जैनेन्द्र का समस्या-मूलक। प्रेमचन्द मे जीवन-पथ का निर्देशन है तो जैनेन्द्र मे जीवन-पथ के निर्माण का आवेदन। जैनेन्द्र ने समाज के सामने प्रधानतः कट्टो, सुनीता, मृणाल और कल्याणी के रूप मे चार प्रश्न उपस्थित किये हैं। उनके सभी प्रश्नो का केन्द्र भारतीय नारी है। हम इसी दृष्टि कोण से उनकी कृतियो का यहॉ अध्ययन करेगे।

यह पहले कहा जा चुका है कि जैनेन्द्र व्यक्ति को लेकर गहरे से गहरे स्तर मे पैठने का प्रयत्न करते हैं। सामाजिक जीवन की विभीपिका में भी जैनेन्द्र का व्यक्तित्व, घने अंधकार मे दीपक की भॉति झिल मिलाता रहता है, अपने आलोक से आलोकित। जैनेन्द्र के सभी चरित्र मनोविज्ञान का अवगुन्ठन डाले हैं और यही तक वे अस्पष्ट भी है।

अनेक अनुसन्धानो के लिये उनके प्रायः सभी पात्र असाधारण हो गये है। लेखक का उद्देश्य यहॉ समाज की सामान्य परिस्थितियो की उपेक्षा करना नही क्योकि जैनेन्द्र आध्यात्मिक होते हुये भी पौराणिक नही है। यह उनके मनोविज्ञानिक सूक्ष्म विवेचन का आग्रह मात्र है। अपनी इसी खोज के पीछे जैनेन्द्र समाजवाद की अपेक्षा व्यक्तिवाद के और भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्म

के अधिक समीप पड़ते हैं। यह बात दूसरी है कि वे प्रेमचन्द की अपेक्षा गाँधी से दूर हैं, यहाँ उनका आध्यात्म भी व्यक्ति की भाँति आत्मलीन हो गया है। यही कारण है कि उनके उपन्यास, व्यक्ति की मनोदशाओं के मार्मिक और सूक्ष्म चित्रण के माध्यम से अपनी कलात्मक पूर्णता को पहुँच कर भी समाजवाद को नही स्पर्श करते।

समाज को छोडकर व्यक्ति का प्रसंग उठाने से साहित्यकार को एक अपना दर्शन भी देना पडता है। जैनेन्द्र का भी एक अपना दर्शन है। सम्भवतः उनका दर्शन बुद्ध की करुणा और महावीर की अहिन्सा से अपनी प्राण-प्रेरणा पाता है, अवश्य ही वह भारतीय आत्म-साधना और फ्रायड के मनोविज्ञान से भी पोषित है। जैनेन्द्र न तो समाजवादियो की भाँति सामाजिक (राजनीतिक) मानव को लेकर चलते, न तो आदर्शवादियो की भाँति सास्कृतिक मानव को। उन्हे न देव चाहिये न दानव, उनका काम निरे मानव से ही चल जाता है।

सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य ने अपने लिये बहुत से सामाजिक तथा सैद्धान्तिक बन्धन बना लिये हैं, अपनी सहज स्वाभाविकता पर कृत्रिमता का आवरण डाल दिया है। इसके फल स्वरूप प्राकृत मानवीय भावनाये कुछ दुर्बल तथा क्षीण पड़ गई है और रूढियो ने स्वाभाविकता का स्वरूप धारण कर लिया है। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप आधुनिक कथा-साहित्य ने मन को अधिक ममता दी है। मानव-मन केवल बुद्धि द्वारा निर्मित और निरूपित गति-पथ पर नही चलता, वह आवेगशील नदी की भाँति कभी कभी अपने नियमित कगारो की सीमा का उल्लघन भी कर जाता है। मन की इस अनिश्चित और आश्चर्यमयी गति-विधि का अन्वेषण करने के लिये ही कथाकार को मनोविज्ञान का का आधार लेना पडा है। परिस्थितियों के प्रभाव से मनोभावो के विकास की कथा उसका साधन बन गई है। जैनेन्द्र की दृष्टि मन की इसी

आधुनिक

पकड़ पर जमी है। वे मानव-मस्तिष्क के साथ उसके हृदय की भी परख करना चाहते हैं।

आदि से लेकर अन्त तक प्रायः इनके सभी पात्र मनोभावो से संचालित विकास-पथ में स्वतंत्र हैं। रागो के मूल उत्स हृदय की उथल-पुथल और उसकी अभिव्यक्ति तथा व्यक्ति की प्रवृतियो का दमन और उसकी प्रतिक्रिया का बहुत ही विषद वर्णन जैनेन्द्र ने किया है। मानव मन के पारखी प्रेमचन्द ने लिखा था—"उनमे अतःप्रेरणा और दार्शनिक सकोच का सघर्ष है, इतना हृदय को मसोसने वाला, इतना स्वच्छन्द और निष्कपट, जैसे बन्धनो मे जकडी हुई आत्मा की पुकार हो"।

जैनेन्द्र के उपन्यासो मे बुद्धि और हृदय (अतस्) का, समाज और व्यक्ति का एक अविराम सघर्ष मिलता है। यही प्राकृतिक और कृत्रिम नियमो की विषमता उनके उपन्यासो की सब से बडी समस्या है। उनके पात्र व्यक्तिगत समस्या के सुझाव में पडकर अशरीरी बन जाते हैं। उनके दार्शनिक विचार उनमे मॉसलता नही भर पाते क्योकि दार्शनिक दुरूहता पाठको के लिये एक विरक्ति का कारण बन जाती है। साधारण पाठक मन की बहुमुखी रहस्यमयी गतियो के साथ दौड नही लगा पाता। जैनेन्द्र के पात्र अपनी परिस्थितियो के वातावरण से असन्तुष्ट होते हुये भी प्रेम और अहिन्सा के द्वारा उसमे घुलने-मिलने की चेष्टा करते हैं किन्तु आत्मत्याग ही उनकी सफलता-असफलता का एकमात्र साधन बनता है। सभी उपन्यास दुखान्त अथवा सुखान्त की अपेक्षा प्रश्नान्त हं। लेखक सभी सजीव प्रश्न चित्रो को पूर्ण व्यक्ति स्वात्रत्य और साथ ही सब को अपनी समवेदनापूर्ण सहानुभूति भी देता है।

परख का आध्यात्मिक विवाह, सुनीता का आत्मिक पातिव्रत्य और कल्याणी का भीतर-बाहर का सामञ्जस्य इसी सहानुभूति का परिणाम है। इन घटनाओ की अवतारणा के कारण हम सहज ही मे यह समझ सकते

हैं कि जैनेन्द्र को व्यक्ति की सात्विक वृत्तियों और आत्मिक सम्भावनाओं के प्रति एक आस्था है। यही कारण है कि लेखक के उद्देश्य की अपील मस्तिष्क के प्रति नही हृदय के प्रति होती है, बौद्धिकता की अपेक्षा वह भावुकता का स्पर्श करता है। मनस्तत्व के विश्लेषण में करुणा की स्थापना इनकी अपनी विशेषता है।

समाज-विधान से वैधव्य का उपहार पाकर भी नटखट और चंचल बालिका कट्टो अपनी मनोदशाओ के अनुकूल भीतर ही भीतर अपने अध्यापक को अपना समस्त अनुराग अर्पित करके सधबा बन बैठती है। इस आत्म-समर्पण में उसका अटल विश्वास है, सामाजिक जडता के ऊपर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सन्देश है। अध्यापक (सत्यधन) परख का दुर्बल अंग है, एक लडखडाता हुआ चल-चित्र है जिसे लेखक ने एक रहस्यात्मक आदर्शवादिता से जकड़ रखा है। विहारी जो नायक नही है, पाठको की सहानुभूति का अधिक अधिकारी है किन्तु शायद उसे सहानुभूति चाहिये नही ? जो भी हो, विहारी और कट्टो का चरित्र ही इस उपन्यास की सार्थकता के साधन हैं, इसमे कोई शक नही।

कट्टो मे आदर्श नारी और विहारी मे आदर्श पुरुष के दर्शन होते हैं। ये दोनो इन्द्रिय-जन्य भौतिक सुखो की सीमा से ऊपर उठकर एक आध्यात्मिक मनोलोक का निर्माण करते हैं, जहाँ वे माया ब्रह्म की तरह दूर रह कर भी पास और पास रह कर भी दूर हैं। लेखक ने कट्टो के सम्मोहनमय समर्पण की असफलता की मनोवेदना और परलोक-साथी की साधना का अत्यन्त सूक्ष्म और प्रभाव पूर्ण उद्घाटन किया है। नीति-विधान के वैधव्य और मनोविधान के सुहाग के झूले मे कट्टो के मानसिक स्तरो का दोलन कलाकार की निपुणता का परिचय देता है, जिसके फल स्वरूप कट्टो विहारी को अपना साथी वना कर सधवा-विधवा ही वनी रहती है। कट्टो, प्रेम मे केवल देना ही जानती है ग्रहण की आकुलता उसमे नहीं। तो क्या उत्सर्ग ही उसका एक मात्र उद्देश्य है ? तिरस्कृत और उपेक्षित

आधुनिक

होने पर भी क्या नारी विद्रोह करना नही जानती ? इन प्रश्नो का उत्तर जैनेन्द्र की भारतीय-दार्शनिकता है, इसी के सहारे कट्टो, सेक्स और समाज की सामान्य परिधि के भीतर रहते हुये भी इनके परे पहुँच जाती है।

आत्म-विकास और त्याग की भावना से ही कट्टो का शृगार होता है। जिस प्रकार कट्टो अनुराग की बलिवेदी पर अपने स्व की बलि चढा कर सेवा-धर्म की उदार गोद मे शान्ति का साक्षात्कार करती है उसी प्रकार सत्यधन इस दुरगी-दुनिया के माया जाल मे पड कर अशान्ति का आलिगन करता है। कट्टो से, लेखक की आत्मिक जिज्ञासा को तृप्ति मिलती है तो सत्यधन से, जीवन और जगत् की यथार्थ वास्तविकता को। सत्यधन की दुर्बलता कट्टो के चरित्र को और अधिक निखार देती है। जैनेन्द्र की यह विरोधाभाषी नाटकीय योजना उपन्यास की जीवन-चेतना बन गई है।

'परख' के विषय मे जैसे जैनेन्द्र ने स्वय लिखा है—जो हमारे भीतर की रुद्ध वेदना को, पिञ्जर बद्ध भावना को, रूप देकर आकाश के प्रकाश मे मुक्त नही करता, जिसमे अपने स्व का सेवन और दान नही, वह साहित्य नही है। साहित्य का लक्षण रस है, रस, प्रेम है। प्रेम अहकार का उत्सर्ग है। हृदय का उत्सर्ग अधिक स्थायी है। इससे भी ऊपर है अपने सर्व स्व का उत्सर्ग"। कट्टो ने यही किया है। अपने हृदय का वास्तव-समर्पण और अन्त मे प्रिय के पाने की भावना का भी उत्सर्ग। परख, मनीपी जैनेन्द्र के भाव-चित्रकार का सफल और सुन्दर प्रयास

'सुनीता' जैनेन्द्र जी का दूसरा उपन्यास है। इसमे भी तीन-चार पात्रो को लेकर कहानी आगे बढती है। वे अपने सभी उपन्यासो मे व्यक्त जीवन की परिस्थितियो की अपेक्षा अव्यक्त मन की भावना का विश्लेषण करने की चेष्टा करते हैं, उनके कुछ पात्र मन की ऐसी

शक्तियो से परिचालित होते हैं जो विश्लेषण के वैचित्र्य से एक अस्पष्ट विस्मय के. रूप मे सामने आते हैं। मन की मौज के अलावा इसका एक दूसरा भी कारण है। जैनेन्द्र ने प्रायः सभी पात्र मध्य वर्ग से चुने है। यह वर्ग समाज का सब से अधिक पीडित और रुग्ण वर्ग है। इसमे संघर्ष की भी कमी नही क्योकि यह वर्ग उच्च वर्गीय सुख-साधनो की कामना मे जितना महत्वाकॉक्षी है उतना ही निम्न वर्ग की विवशता से भयभीत। इन दोनो परिस्थितियो के वैषम्य की विकलता का वह प्रतीक है, अस्तु उसके बाह्य और अन्तर्जीवन मे एक प्रकार की गोपनीयता अवश्यम्भावी हो उठती है। जैनेन्द्र के प्रायः पात्र ऐसे ही है।

'सुनीता' की भूमिका मे पात्रो की दिव्यता का आग्रह किया गया है। किन्तु सुनीता और हरिप्रसन्न का व्यवहार कृत्रिम भाव प्रवणता के माध्यम से वासना का उद्रेक करता है जो भूमिका के वकतव्य के प्रति स्वय एक चुनौती है। यह तो मानी हुई बात है कि आधुनिक कथा-साहित्य का झुकाव मनोविज्ञान की ओर अधिक है किन्तु वह साहित्य का साध्य नही साधन मात्र है। जब कलाकार वैज्ञानिक या दार्शनिक बन जाता है तब उसकी कला सशयात्मक हो जाती हैं। 'परख' में भी पात्रो के गूढ़ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का विधान है किन्तु उसमे कहानी का भी एक आकर्षण और संगठन है। पात्र-सभी अजीव होते हुये भी सजीव हैं, घटनाये स्वाभाविक और तर्क-सगत तथा उपयुक्त हैं। उपन्यास का उद्देश्य भी साफ है।

'सुनीता' मे कथा के सहज विकास का ध्यान उतना नही रखा गया जितना विश्लेषण का। सारी कहानी पात्रो की वादविवादमयी दार्शनिकता से दबी है। हरिप्रसन्न को हम एक साथ ही शिल्पी, कलाकार, दार्शनिक एकान्तप्रिय और क्रान्तिकारी के रूप में पाते हैं किन्तु उसकी वास्तविक आकाक्षा का पता अन्त तक नही चलता। उसका मित्र श्रीकात उससे भी अधिक रहस्यमय है। हरिप्रसन्न के जीवन-प्रवाह

आधुनिक

को सोद्देश्य बनाने के लिये वह अपनी पत्नी को साधन बनाना चाहता है। उसे बाँधने के लिये सुनीता को रस्सी बनाना चाहता है। इस बन्धन की सम्भावना की प्रेरणा से वह इन दोनो को अकेले छोड देता है। सुनीता एक तीर से दो शिकार करना चाहती है किन्तु ऐसा होता नही और अन्त मे उसे हरिप्रसन्न की वासना को दबाने के लिये नारी की जन्मजात लज्जा का भी परित्याग करना पडता है, शायद वासना को करुणा मे बदल देने के लिये। कहानी के बीच-बीच मे लेखक के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक खड्ढो को कूद-कूद कर पार करना पडता है। फिर भी परिश्रम सफल नही होता।

सुनीता का चरित्र भी अपने विषय मे दुनिया को और अपने को धोखा देने का एक नियोजन मात्र है। उसे हम असाधरण और अलौकिक भी कह सकते हैं क्योकि वह या तो देवी है या दानवी, उसे लेखक के हाथ की कठपुतली भी कहा जा सकता है। मानवी का उसमे आभास नही है। साराशतः इस उपन्यास की घटनाये और पात्र सभी एक प्रकार की गोपनीयता मे गायब हो जाते हैं, ससार के लिये वे अविश्वनीय भी हैं। उपन्यास मे मानवीय दुर्बलताओ का चित्रण भी कला और सुरुचि की सीमा के भीतर ही श्लाघ्य है। इसमे सन्देह नही कि इस उपन्यास के पात्र व्यक्तित्व की स्पष्टता नही पाते, वे रहस्य, झिझक और मन के मायाजाल के धुँधलेपन मे इधर उधर भटकते फिरते हैं। लगता है जैसे 'परख' की आध्यात्मिक उच्चता 'सुनीता' के ढोग के गहरे गड्ढे मे गिर पडी है।

'त्याग पत्र' इनकी तीसरी श्रेष्ठ औपन्यासिक रचना है। यह एक भयानक और हृदय को कँपा देनेवाली जीवन की दुखान्त विभीषिका के रूप मे उपस्थित की गई है। इसकी नायिका मृणाल (बुआ) अपने भतीजे से प्रेम करती है। यह प्रेम भी रहस्य से खाली नहीं। या तो यह इतना ऊँचा और मानवातीत है कि इसे समझा नही जा सकता

नही कर सकता। सुन्दर सिद्धान्तो के लिये आत्मत्याग जीवन की असफलता का नही, सफलता का सूचक है। महादेवी जी के साथ मानो जैनेन्द्र जी भी कह रहे हैं—एक मिटने में सौ वरदान।

अन्त में मै जैनेन्द्र की कृतियो के विषय में कुछ बाते बहुत स्पष्ट रूप से निवेदन करना चाहता हूँ। उनके सभी उपन्यास कुछ अधूरे से रह जाते हैं, उनके अध्ययन के पश्चात् हम किसी निश्चित निर्णय पर नही पहुँचते, पता नही चलता कि आखिर लेखक चाहता क्या है? दूसरी बात जो बहुत खटकने वाली है, वह लेखक की कुछ पात्रो की विकृतियो पर अस्वाभाविक ममता है। 'परख' का सत्यधन, 'सुनीता' का श्रीकान्त मानवीय मानसिक दुर्बलताओ के प्रतीक हैं फिर भी उपन्यासकार ने उन्हे एक दार्शिनिक उच्चता मे स्थापित करने की चेष्टा की है। इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिये हमे एक बात समझ लेने की आवश्यकता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिये लेखक जब स्वय अपने मन की अज्ञात चेतनाओ का शिकार बन जाता है तब उसके विश्लेषण मे बहुत-सी ऐसी कमियाँ आ जाती हैं जो लेखक कभी पाठको के सामने नही रखना चाहता था। पात्रो की अनतस्चेतना के विवेचन मे लेखक को अपने अवचेतन मन से बहुत सतर्क रहना चाहिये अन्यथा वह पात्रो की विकृतियो मे स्वय एक रसनिमग्नता का अनुभव करने लगता है और पाठक पात्रो के रूप मे लेखक को देखने लगते हैं। जैनेन्द्र जैसे लेखको के लिये यह विधान और भी आवश्यक हैं क्योकि वह अपने पाठको से बहुत कुछ स्वय समझ लेने का तकाजा करते हैं और पूरी बात कहने की अपेक्षा सकेत से अधिक काम लेते हैं।

अन्तःप्रेरणा और मानसिक सघर्ष मे पड़े हुये व्यक्तियों के कोरे अध्ययन से उतना लाभ नही जितना उनके समुचित विकास की भावना से क्योकि प्रेय-श्रेय के सन्तुलन का दिशा-सकेत ही साहित्य का साध्य है।

आधुनिक

जैनेन्द्र के उपन्यासो का एक भी पात्र अपने आप पूर्ण नही है, दूसरे पात्रो से अलग करके देखने से उसका अस्तित्व एक प्रकार के छायालोक मे विलीन हो जाता है। फिर इस तरह के परोपजीवी पात्र समाज के किस उपयोग मे आवेगे ? लेखक इस समस्या के सुझाव मे पाठको की कोई सहायता नही करता। इन गुत्थियो के सुलझाने मे स्वयं उलझ जाता है। चरित्रो का सुस्पष्ट व्यक्तित्व निर्माण उपन्यासकार का पहला कर्तव्य है, इसे हम नही भुला सकते।

आशा है कि जैनेन्द्र जी भविष्य मे अधिक सतर्कता से सचालित होकर उत्तम कोटि की कृतियों का सृजन करेगे क्योकि उनकी प्रतिभा का हिन्दी साहित्य को बहुत विश्वास और गौरव है।

इलाचन्द्र जोशी

चेतना जीवन का चिह्न है और जीवन, जिज्ञासा का आधार। कुतूहल और जिज्ञासा की प्रेरणा से जगत् मे जीवन प्रवाहशील बना रहता है और इसीलिये जीवन की किसी कृति मे इन प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहता है, इसमें सन्देह नही। साहित्य इसी जीवन की चिन्तित, अनुभूत और समवेदन से स्पष्ट हुई परम्पराओ तथा प्रणालियों का एक सुसम्बद्ध साक्षी है। उसे जीवन का सयोजित तथा सहानुभूतिमय व्यापक स्वरूप भी कहा जा सकता है। कथा, साहित्य की आदि वाणी है और उसी का विकास आधुनिक उपन्यास। प्रायः १८ वी शताब्दी तक साहित्य क्षेत्र मे उपन्यास का कोई महत्वपूर्ण स्थान नही था किन्तु १९ वी शताब्दी मे यह साहित्य का एक प्रमुख अग माना जाने लगा। आज तो उपन्यास ही साहित्य हो रहा है। ऐसा क्यो ? का प्रश्न भी स्वाभाविक है। शायद इसका कारण यह है कि स्वकीया की भाँति अपने मे पूर्ण और स्नेहशील होते हुये भी जीवन, परकीया की तरह काल्पनिक और हाव-भाव पूर्ण आकर्षण की तृप्ति साहित्य मे पाता है। साहित्य मे सब प्रकार के व्यक्तियो की रुचि की तुष्टि होती है व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष ही की नही, क्योकि वह केवल व्यक्ति से नहीं समष्टि से सम्बन्ध रखता है। जीवन की विषमता और विशृखलता साहित्य मे पहुँच कर ऐक्य की सुगठित पीठिका पर आसीन हो जाती है और साथ ही उसमे कलाकार के व्यक्तित्व की आभा भी आलोकित हो उठती है। उसमे अपने रँग मे सब को रँग लेने की क्षमता सहज सम्भव हो जाती है। उपन्यास-प्रियता का भी यही कारण है। इसके अलावा उपन्यास की रूप रेखा भी क्या कही जाय ? यह युग विधि विधानों

आधुनिक

का नही रहा परन्तु इस अनिश्चय से सतोष भी तो नही होता है।

स्वर्गीय प्रेमचन्द के शब्दो मे—"उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है"। उपन्यास विषयक जिज्ञासा को शान्त करने की क्षमता है। यह कहने की आवश्यकता नही कि इस मानव-चरित्र-चित्रण मे कथाकार, इतिहासकार की भाँति कटु तथा निर्मम सत्य का ही उपासक नही वह तो सम्भाव्य सत्य का भी उद्घाटन करता है। कथाकार जीवन के विभिन्न पथो से पार होता हुआ जीवन को उसकी सारी समग्रता से ग्रहण करने की चेष्टा करता है। जीवन के सभी क्षेत्रो और अंगो का वह समवेदनमय स्पर्श करता है। उसका कार्य केवल चित्रण न होकर उद्देश्यमय चित्रण है, इसी कारण उसे सूक्ष्म निरीक्षण और सहानुभूति की अतीव अपेक्षा रहती है। यही यथार्थ और आदर्श का भी प्रश्न सामने आता है। चूँकि उपन्यास, साहित्य की नवीनतम अभिव्यक्ति है इसलिये स्वभावतः उसके मूल्यॉकन का मापदन्ड भी कुछ नवीनता लिये होगा। पिछले जीवन और साहित्यिक नियमो, नीतियो और आदर्श की रूढियो की कसौटी पर वह नही कसा जा सकता। फिर क्या वह एक दम जीवन का यथार्थ है। नही, क्योकि निर्माण तथा सृजन की इच्छा ही एक आदर्श है। हिन्दी मे ही नही उपन्यास को लेकर विश्व-साहित्य मे भी यह विवाद चला था। उदाहरण के लिये अँग्रेजी का ही साहित्य ले ले। सन् १८६० तक उपन्यास साहित्य मे आदर्शवादी डेकिन्स और थेकरे की महान महिमा थी। इनके अलावा अन्य उपन्यासकार भी जीवन की विश्वासमयी सहज समस्याओ का ही सुझाव सामने रखते थे। उनमे जीवन की आकुल-व्याकुल तरगो, तुमुल कोलाहलमयी विषमताओ का एक भीषण सघर्ष तो है किन्तु अन्त मे वह जीवन के माने हुये सिद्धान्त-सागर मे विलीन हो जाता है।

जीवन के घात-प्रतिघात के पश्चात् उसकी आदर्शात्मक शान्ति निश्चित रहती है। एक अव्यवस्थित आँधी के बाद मलयानिल की परम्परा-मान्य परिस्थितियो का सचरण सरक्षित है। उनके उपन्यासो मे बुराई की हार और भलाई की जीत आवश्यक है। शायद वे इसी कारण साहित्यिक की अपेक्षा उपदेशक से प्रतीत होने लगते हैं। प्रत्येक उपदेशक का साम्प्रदायिक (वर्ग-सघर्ष मुखापेक्षी) होना अनिवार्य सा हो उठता है, जो कलाकार की पराजय है।

अपने यहाँ उपन्यास साहित्य के अग्रदूत प्रेमचन्द तक यही प्रकृति पायी जाती है किन्तु साहित्य तो एक वर्ग, एक जाति तथा एक देश की सकुचित सीमा मे सीमित न होकर विश्व-जीवन को गले लगाता है। (गाँधी और मार्क्स जीवन की इसी व्यापकता के दो छोर हैं एक दूसरे के विरोधी नही पूरक की भाँति) उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द भी जीवन से दूर की आदर्शवादिता के कारण वर्ग-संघर्ष की ओर ही अधिक उन्मुख थे, जीवन की सामूहिक चेतना की ओर नही। यद्यपि जीवन-दर्शन की प्रत्यक्षता ने, वैज्ञानिक खोजो की सत्यता ने और जीवन-व्यापी विषमता ने उनकी आँखो मे चकाचौध पैदा कर दिया था किन्तु वे पूर्ण रूप से उसके सहयोग में अपनी आत्मीयता नही दे सके। मूल परिष्करण की अपेक्षा पत्ते ही पोछते रहे। उनके उपन्यासो की आत्मा समाज के किसी विशेष (स्तर) वर्ग की उलझनो को सुलझाने मे ही व्यस्त रही। सेवासदन मे वेश्या-वृति का करुणात्मक चित्रण तथा नैतिक निरूपण बहुत ही सुन्दर है किन्तु उसका कारण कथाकार ने सनातन मानवीय प्रवृत्तियाँ न मानकर सामाजिक विफलताएँ माना है। पुरुष की आदिम विलासिता, जो वेश्या-जीवन के निर्वाह तथा उद्भावना का सुफल है उसे वे सर्वथा भूल जाते हैं, इसी कारण उनका सामाजिक विषमता का विश्लेषण अधूरा और उनका सुझाव एकाँगी तथा अपूर्ण उतरता है। एक वेश्या का जीवन-सुधार उस वर्ग की समष्टि परिवर्तन

करने मे समर्थ नही हो सकता। इसी प्रकार 'रगभूमि' का सूरदास बिना मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो के, नैतिकता और आदर्श की उस भूमि पर पहुँच जाता है जीहाँ हम उसे पहिचान ही नहीं पाते क्योकि वह आदि से अन्त तक जीवन की हीनताओं से परे है। उपन्यास मे उतना महान होते हुये भी वह जीवन मे एक भिखमगा ही रह जाता है। साहित्य और जीवन की यह दूरी? प्रेमचन्द अपने पात्रो के चरित्र-निर्माण मे जीवन का केवल उज्ज्वल पक्ष देखते हैं। वहाँ चाँदनी का ही चाव है, अँधेरी का अस्तित्व ही नही जो सत्य का दूसरा पक्ष है। जीवन के बड़े से बडे प्रलोभनो को सूरदास इसप्रकार छोडकर चला जाता है जिस प्रकार पारवारिक दैनिक कलह मे अबोध शिशु माँ की गोद को। सम्भवतः इसी की प्रतिक्रिया 'कायाकल्प' में उन्हे जीवन की वास्तविकता के साथ कुछ अलौकिक विभूतियो को भी अपनाने की प्रेरणा देती है। उनका उद्देश्य भी सम्भवतः उतना चरित्र-चित्रण नही जितना सुधार। उनकी आत्मा नैतिक तथा सामाजिक सुधार की शारीरिकता मे बही है, मानव-मन की शूद्म मनोवृत्तियो की विरोधात्मक अभिव्यक्ति मे उसका निवास नही हे। इसका फल यह हुआ हे कि उनके चरित्र तथा पात्र सार्वजनिक एव सार्वभौमिक अमरता के अधिकारी नही हो पाये। वे मनुष्य के बीच रहने लायक मनुष्य हैं भी तो नही, वे तो देवताओ की श्रेणी मे, मनुष्य से ऊपर देवलोक के निवासी हैं। जब कथाकार अपने पात्रों को मानवीय सहज मनोवृत्तियों की उपेक्षा करके आगे बढा ले जाता है तब वे सचाई से उतनी ही दूर पड जाते हैं जितनी सेल्फ स्टार्ट कार से ढकेली हुई कार। यथार्थ की यह उपेक्षा और आदर्श की यह ममता, कलाकार को जीवन की सुचारुता के एक आग्रह-पूर्ण आन्दोलन का मुखिया तो बना देती है, पर उसे मानव-कल्याण की सामूहिक चेतना का चित्रकार नहीं बना पाती। प्रेमचन्द आदर्श के सचेष्ट उपासक होते हुये भी जीवन और जगत् के प्रति सदैव जागरूक रहे और 'गोदान' अपने अन्तिम उपन्यास मे वे

जीवन के अधिक समीप हैं 'आदर्श' के कम। जीवन की परिपक्वता के साथ उसकी व्यापक वास्तविकता को उन्होने गोदान मे बडी खूबी और कलात्मकता से अपनाया है। दुख की बात है कि यहाँ पहुँचते पहुँचते उन्होने हमारा साथ ही छोड दिया, हिन्दी उपन्यास-साहित्य के सब से बड़े दुर्भाग्य का वह दिन था, इसमें सन्देह नही। फिर भी 'गोदान' प्रेमचन्द के औपन्यासिक व्यक्तित्व का सुदृढ प्रकाश-स्तम्भ है, इसे सभी स्वीकार करेगे।

प्रेमचन्द के सम-सामयिक उपन्यासकार उनकी पार्श्व-छवि बनकर ही रहे, उसी महान् व्यक्तित्व के प्रति समर्पणशील अथवा स्नेहशील। प्रसाद, निराला, भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा तथा अज्ञेय आदि ने इस क्षेत्र मे अपना सुन्दर सहयोग दिया। अँग्रेजी मे हार्डी की भाँति हिन्दी मे सन् १९२७ मे श्री इलाचन्द्र जोशी ने औपन्यासिक यथार्थ की अभिव्यक्ति 'घृणामयी' के रूप मे दी किन्तु वह उल्कापात की तरह अपनी क्षणिक आभा मे ही समाहित हो गयी। जैनेन्द्र ने भी इस भावना को चरितार्थता देने का प्रयास किया किन्तु वे अपनी दार्शनिकता मे ही डूब से गये। अपने दूसरे उपन्यास 'सन्यासी' मे जोशी ने अपनी यात्रा का दूसरा कदम बढाया। यही से हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे एक नवयुग का आरम्भ होता है। 'सन्यासी' मनोवैज्ञानिक सत्यो की खोज में जीवन के जिन गहन और अज्ञात स्तरो का उद्घाटन करता है, वे हिन्दी मे एक दम नवीन तथा जीवन के लिये स्वास्थ्यकर और आवश्यक है। उनसे उपन्यासो के क्षेत्र मे एक नवीन भावना का उद्बोधन और एक नयी शैली का आनयन होता है। जोशी के उपन्यासो मे जीवन की आँधी उठती हुई दिखाई देती है और अन्त तक चलती भी रहती है। यह तो मानना ही होगा कि हर युग की समस्याये अलग-अलग होती है किन्तु जीवन एक होता है। जीवन की कठिनाइयाँ नई तो नहीं होती किन्तु उनका रूप और अर्थ नया हो जाता है। 'सन्यासी' मे यथार्थ की जीवन-भूमि पर मानवीय मनोभावो का सूक्ष्म तरगाभिघात एव जीवन

आधुनिक

के मूल तत्वो का विश्लेषण और विवेचन अपनी एक खास खूबी रखता है। जीवन के वाह्य तथा अन्तर के भावों-प्रतिभावो का भीषण सघर्ष और उनका समुचित सामञ्जस्य हमे प्रथमवार 'सन्यासी' मे मिलता है। इसका यह आशय नही कि जोशी अपने उपन्यासो मे केवल जीवन का यथार्थ ही उपस्थित करते हैं। साहित्य-सृष्टि मे किसी न किसी आदर्श का आधार तो लेना ही पडता है, किन्तु जीवन की सहज सम्भावना के बीच मे ही वह आदर्श अपना विकास पा सकता है, जीवन से परे कल्पना लोक या देवलोक मे नही। जोशी ने जीवन के बीच मे यथार्थता की सीमा के भीतर आदर्श की स्थापना की है। उन्होने केवल जीवन का सुनिर्मित, सुन्दर तथा सर्वाङ्गपूर्ण स्वरूप ही नही देखा, केवल शुक्ल पक्ष को ही नही स्वीकार किया वरन् जीवन-जाल के निदारुण अधकार मे पैठकर भी अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैलाया है। वे जीवन के उल्लास से अपरिचित नही किन्तु उसके विषाद से विचलित भी नही होते। वे अपने साहित्य मे दोनो के सामञ्जस्यकार है। तभी तो विनाश और हत्या की यथार्थ मार्मिक वेदना को वे आदर्श की स्निग्ध छाया मे स्थापित करके उसके करुण ककाल को जीवन की स्वस्थ मॉसलता दे देते हे। उनके उपन्यासो की धारा मे यथार्थ और आदर्श, सरिता के युगल पुलिनो की भॉति जीवन की मर्यादा और गहराई की रक्षा करते है। उनका आदर्श-विहग जीवन-तरु मे ही अपने पख पसारता है, आकाश की अनन्त शून्यता मे नही। कहने का आशय यह कि जोशी के यथार्थ की अनुभूत-तीव्रता आदर्श तक पहुँचने की गति देती है और आदर्श की दृष्टि उस गति को व्यवस्था। वे साहित्य को न तो केवल समाज का दर्पण ही मानते न दीपक ही, शायद वे दोनो मानते हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन का स्वाभाविक चित्रण अनुभूति की सचाइयो के साथ उनका साथी है। इसके पहिले उपन्यासो मे जीवन की विविधता, उसकी विचित्रता, तथा मनोवैज्ञानिक रहस्यमयता कम मिलती है, कल्पना की

कमनीयता का जितना उत्कर्ष मिलता है अनुभूति की आकुलता का उतना उन्मेष नही। जोशी ने अपने उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ चरित्रो का ऐसा निर्माण किया है जो सिद्धान्तों, सुधारो और आदर्शों की मूर्तियाँ नही हैं, उनमे जीवन की सफलता-विफलतामयी सजीवता है। उनका यथार्थ, आदर्श से सजीवन पाता है संरक्षण नही। साहित्य की सब से बडी सफलता यथार्थ की यही आदर्शात्मक अभिव्यक्ति है। जोशी की कला का विषय मौलिक मानवीय प्रवृत्तियाँ हैं—ईर्ष्या, भय, क्रोध, उदारता, प्रेम, घृणा, हर्ष, विषाद तथा राग-विराग एवं अहकार-अभिमान आदि। शेक्सपियर के चरित्रो की भाँति जोशी के चरित्र जीवन की क्षणभगुरता और उसके व्यापक विनाश-लीला के अधिनायक हैं, इसी से सहज स्वाभाविक भी है। ठीक भी है, दुखों का सत्य सुखो के सत्य के ही समान है, प्रकाश और अन्धकार दोनों जीवन मे अपना अपना अस्तित्व रखते हैं। जीवन की इन विरोधात्मक परिस्थितियो और वास्तविकताओ को स्वीकार कर लेने के बाद जोशी को स्वभावतः मनुष्य की मानसिक, शारीरिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियो की ठोस सतह को टटोलना पडा है, आधुनिक जीवन को देखने और समझने के लिये एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करना पडा है और यही उनका प्रयास, हिन्दी को पुरस्कार है। जोशी का उपन्यास-साहित्य आदर्श यथार्थ, किसान-जमीदार तथा समाज और ससार के बीच का विवाद नही, वह तो जीवन की स्वाभाविक गति का निर्विवाद पथ है। उसमे चलकर मानव मात्र अपना लक्ष्य खोज सकता है क्योंकि जोशी अपनी साहित्यिक प्रेरणाओ मे परम्परागत किसी परिवार (वर्ग-विशेष) ही के आस्तिक प्राणी नही, वे विश्व-व्यापी मानव-परिवार के सुरुचि सम्पन्न सदस्य हैं।

आज का अह पीडित मानव अपनी अन्तरतम मे छिपी हुई जिन विनाशकारी प्रवृत्तियो के कारण जीवन की आधुनिक दुरावस्था मे पहुँचा है उन्ही के सयोजन और सन्तुलन का स्वर जोशी ने साहित्य मे ऊँचा किया है,

आधुनिक

इसे हिन्दी वालो ने स्वीकार भी किया है। अज्ञेय का 'सन्यासी' पर लेख इस बात का साक्षी है। सभ्यता की शान मे चढे हुये प्रमाद और भ्रान्ति को जोशी ने दूर करने का मनोवैज्ञानिक उपचार दिया है। जीवन की सारी कुरूपता दिखला कर वे उससे बचने की सोध मे सलग्न होते हैं। कहा भी गया है कि कलाकार के कठ मे हलाहल विष भी विश्व के लिये कल्याणकर हो जाता है, जनसाधारण का अभिशाप कलाकार अपने ऊपर वरदान बना लेने की क्षमता रखता है। जोशी के उपन्यास जीवन का वह वातायन हैं जिससे मनुष्य सतत् प्रवाहित जीवन के या मस्तिष्क में बहती हुई चेतना के प्रवाह को सहज और स्वाभाविक रूप से देख सकता है। 'पर्दे की रानी' उनका नवीनतम उपन्यास है। जोशी की उपर्युक्त विशेषताओ का हम इसी मे अध्ययन करेंगे। इस उपन्यास मे कथाकार ने अपने पात्रो का जिस निर्ममता और तटस्तता से आत्म विश्लेषण किया है उसे एक छोटे कथानक मे बॉध लेना सहज नही किन्तु नीचे दिये हुये कथानक-तत्व से उसकी गहनता का आभास अवश्य हो सकेगा। दो लडकियॉ निरञ्जना और शीला अपनी अपनी आत्म-कहानी कहती हैं। निरञ्जना नायिका तथा शीला उसके यूनीवरसिटी जीवन की साथिन है। निरञ्जना वेश्या मॉ और हत्यारे बाप की लडकी है, शीला समाज के मध्यम वर्ग की कन्या। निरञ्जना का बाप उसकी मॉ श्यामा को वेश्यालय से ले आया था। निरञ्जना के जन्म के बाद उसके पिता को बारह वर्ष की कालेपानी की सजा मिल जाती है, लेकिन श्यामा ने उसे बाप के मर जाने की सूचना दे रखी है। वह अपनी मॉ के साथ सुखी और सम्पन्न जीवन व्यतीत करते हुये प्रायः सोलह साल की हो जाती है। तभी एक रात को वह अपनी मॉ की हत्या का भीषण दृश्य देखती है और तब से उसका जीवन एक दम बदल कर अति अधिक सजग हो जाता है। इस घटना के पहिले उसने कभी स्वप्न मे भी अपने घर की और अपनी वास्तविक

स्थिति जानने की कोशिश भी न की थी। एक राजकुमारी की भाँति सुख के अस्थायी सपनो मे पलती बढती रही। माँ के जीवन और वैभव का भी उसे कुछ पता नही था। माँ की मृत्यु के बाद अपने गार्जियन मनमोहन के पास अपना पुराना आलीशान मकान छोडकर एक बॅगले मे रहने लगती है। खिन्नमना, उदास और एकाकिनी। कालेज मे उसका परिचय मनमोहन की दो लडकियो से होता है जो उसके यहाँ चाय पीने आने से अप्रत्यक्ष इंकार कर जाती हैं। लेकिन एक दिन उनका भाई इन्द्रमोहन जो अभी विलायत से लौटा है उसके बॅगले मे आकर बडी बेतकल्लुफी से पेश आता और बाते करता है। निरञ्जना भी उसके प्रथम दर्शन से ही उसकी ओर बडी तीव्रता से आकर्षित होती है किन्तु शीघ्र ही इन्द्रमोहन की तूफानी बातो से सजग होकर उससे सतर्क भी रहना चाहती है, आत्म-सुप्ति के बाद आत्म-जागरण का आधिक्य। निरञ्जना अपने सस्कारो के अनुकूल इन्द्रमोहन की ढिठाई को खूब प्रोत्साहित करती है, साथ ही कटाक्षपात भी। उससे खुलकर खेलना चाहती है। एक दिन दोनो साथ ही नुमायश मे जाते हैं। लौटते समय इन्द्रमोहन उसे खाना खाने का बहाना बताकर एक बड़े होटल मे ले जाता है। वहाँ वह खूब शराब पीता है और निरञ्जना से वासना-तृप्ति का प्रस्ताव करता है, यहाँ तक कि निरञ्जना के अस्वीकार करने पर नशे की हालत मे बल प्रयोग भी करता है और अन्त मे जेब से पिस्तौल निकाल कर अपनी विफलता की ग्लानि से आत्म-हत्या करने की धमकी देता है। उस परिस्थित से निरञ्जना उसे नशे मे बेहोश छोडकर भाग निकलती है। संयोग से रास्ते मे उसके घरेलू अध्यापक चन्द्रशेखर मिल जाते हैं जो उसे उसके बॅगले मे पहुँचा देते हैं। निरञ्जना किसी ज्ञात-अज्ञात भय से अपने गुरू को बडे आग्रह के साथ अपने यहाँ रात को रोक लेती है। कुछ अधिक रात जाने पर इन्द्रमोहन आ पहुँचता है। उसकी विफलता गुरू को देखकर क्रोध

में बदल जाती है और वह गुरू पर पिस्टल चलाता है किन्तु नशे की लडखडाहट मे गोली छुट कर गुरू के हाथ मे लगती है। निरञ्जना व्याकुल भाव से गुरू की सेवा करने लगती है तब इन्द्रमोहन स्वयं पट्टी बाँध कर उसे शराब से तर करके माँफी माँगता हुआ लज्जित होकर अपने घर वापस चला जाता है। अब वह प्रत्यक्ष रूप से निरञ्जना का पीछा छोड़ देता है और उसे पाने की एकान्त साधना मे जुट जाता है।

मनमोहन निरञ्जना के पास बराबर आता रहता है, उसका भी उद्देश्य, निरञ्जना को अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाने का है। निरञ्जना एक दिन बुरी तरह से बिगड़कर मनमोहन को बहुत डाँटती है और बाप बेटे की काली करतूतो पर बहुत क्षोभ प्रकट करती है। मनमोहन का भी दिमाग उस फटकार से ठीक हो जाता है, यथा कोड़े से गँवार घोड़ा। अपनी पराजय की प्रतिक्रिया स्वरूप वह निरञ्जना के पिछले जीवन का और उसके माँ बाप की कहानी का सारा रहस्य खोल देता है। निरञ्जना को इस समाचार से एक बडा आघात पहुँचता है और उसके अहभाव को एक ऐसी पीड़ा पहुँचती है कि वह मानव विद्रोही हो उठती है क्योकि वह अपनी सामाजिक हीनता की ग्लानि को एक क्षण भर को नहीं भुला पाती। इन सब द्वन्द्वो को भुलाने की इच्छा से वह बँगला छोडकर युनीवरसिटी हास्टल मे भरती होकर पढने लगती है। यही शीला से उसका परिचय होता है और घनिष्ठता बढने लगती है। शीला स्वभाव से बडी स्नेहशील और भावुक, प्राणी है। निरञ्जना को वह इतना चाहने लगती है कि उसे स्वय आश्चर्य होता है। दोनो की मित्रता मे समता की सारी बातों के साथ जीवन के अनुभवो की बडी विषमता भी है। निरञ्जना का जीवन-अनुभव, शीला के लिये एक पहेली मात्र है। आपस की बातचीत मे निरञ्जना अपने विवाह सम्बन्धी विचारों को बताकर शीला से विवाह करने को मना

करती है और कहती है कि पति-पत्नी की हत्या भी कर सकता है। पढ़ाई खतम करके दोनो अपने घर चली जाती हैं। कई वर्ष बाद मशूरी मे निरञ्जना की शीला से अचानक भेट हो जाती है, दूर पर इन्द्रमोहन, शीला का पति भी खड़ा है। निरञ्जना ने उसे और उसने निरञ्जना को दबी आँखो देख लिया है। शीला उत्सुकता पूर्वक इन्द्रमोहन का परिचय कराना चाहती है। निरञ्जना पहिले तो इंकार कर देती है पर अन्त मे अनमने मन से मिलती है। शीला को यह भी पता चल जाता है कि वे दोनो पहिले से परिचित हैं। दोनो सखियाँ एक दूसरे के यहाँ आना जाना शुरू करती हैं। निरञ्जना अक्सर इन्द्रमोहन का बात-बात मे विरोध करती और उसे बेवकूफ बनाती है और शीला के प्रति बडा स्नेह जताती है किन्तु भारतीय नारी के अनुरूप शीला इसे पसन्द नही करती। निरञ्जना शीघ्र इसको ताड़ जाती है और अपना रूप बदल कर इन्द्रमोहन से बड़ी सरसता और स्नेह से बाते करने लगती है। इन्द्रमोहन को यही चाहिये था, वह कभी कभी निरञ्जना के यहाँ अकेले भी पहुँच जाता है। नाच-रग मे भी दोनो जाते हैं, नाचते और खेलते कूदते हैं। शीला सन्देह की शूल से स्वय उनका साथ नही देती, वह बीमार भी रहती है। निरञ्जना का प्रथम आकर्षण पुनः जागरित हो जाता है, राख में ढकी आग की तरह। इन्द्रमोहन इस बार उसे बड़ी युक्ति से पनपने देता है। एक दिन समय पाकर इन्द्रमोहन अपनी सारी व्यथा को, निरञ्जना के पाने की लालसा को, उसके सामने खोलकर रख देता है। निरञ्जना का मन भी बासों उछलने लगता है पर शीला की ममता उसके बीच मे आकर खडी हो जाती है। वह इन्द्रमोहन से बडी शालीनता और सावधानी से कहती है कि शीला के जीते जी उसका प्यार इन्द्रमोहन को नही मिल सकता। इन्द्रमोहन इस बात को नोट कर लेता है और शीला की हत्या कर डालता है। उसके मरने के बाद निरञ्जना को बड़े दुख और करुणा के साथ शीला

आधुनिक

की हत्या का नहीं स्वाभाविक रुग्णता की मृत्यु का समाचार देता है। साथ ही यह भी कहता है कि वह स्वय एक मामले मे फंसा है जिससे जीवन बचाने के लिये उसे नैपाल जाना जरूरी है। उसके जीवन की इस दयनीय दशा मे निरञ्जना उसके प्रति अधिक सहृदय हो जाती है। करुणा के प्रवाह मे आत्म-समर्पण कर बैठती है और अपना सर्वस्व छोडकर उसके साथ चलने को प्रस्तुत हो जाती है। ट्रेन मे दोनो का प्रथम और अन्तिम प्रणय-मिलन होता है। जीवन-व्यापी वासना की तृप्ति के बाद इन्द्रमोहन शीला की हत्या का समाचार देता है। इसे जानकर निरञ्जना बहुत दुखी और क्रोधित होती है, इन्द्रमोहन को गाली सुनाती है। इन्द्रमोहन निरञ्जना के क्रोध को नही संभाल पाता और अपने को सच्चा प्रेमी साबित करने की धुन मे गाडी से कूद पडता है। इस प्रकार आत्म हत्या मे नायक का अन्त होता है। नायिका अब और अधिक उदास, खिन्न और त्रस्त होती है। लौट कर अपने गुरू को सारा किस्सा सुनाती है। गुरू एक गम्भीर तथा भावुकता भरा भाषण देकर इन्द्रमोहन की सजीव स्मृति गर्भ की रक्षा का व्रत निरञ्जना से स्वीकार कराता है। निरञ्जना भी उस स्थिति मे उसी मे अपना कल्याण पाती है। यही पहुँच कर उसके जीवन के दुख द्वन्दो की परिणति मातृत्व की शान्त और ममतामयी भावना मे होती है। यही कथानक का ढाँचा है।

छायावाद मे अनन्त की भाँति आज उपन्यास-क्षेत्र मे मनोविज्ञान शब्द का बहुत प्रचलन है किन्तु वास्तव मे मनोविज्ञान अपने सच्चे अर्थों मे जोशी के उपन्यासो मे आया है। 'पर्दे की रानी' के पात्र और उसकी घटनाये सभी किसी न किसी मनोवैज्ञानिक सत्य की आत्मा का प्रतिपादन करते हैं। उपन्यास का स्वरूप आत्मकथानक ढंग का है। इस प्रकार के उपन्यास मे लेखक को अपनी तरफ से कुछ कहने की गुँजायश नही रहती, पात्रों के आत्म-विश्लेषण से ही सारा रहस्योद्घाटन होता

चलता है, यह एक प्रकार का नाटकीय ढंग है। ऐसे चरित्र-चित्रण और चिरत्र-निर्माण मे बड़ी सावधानी की आवश्यकता रहती है क्योंकि पात्रो की स्वाभाविक परिस्थितियाँ और उनके मन की मौलिक वृत्तियो के सामञ्जस्य से ही उनका विकास होता है और इस विकास की परिणति के लिये कथाकार को प्रत्येक पात्र से पूर्ण तादात्म करना पड़ता है, जो सबके लिये सहज सम्भव नही। इस शैली के उपन्यासकार बहुधा इतिहासकार या शुद्ध निबधकार बनकर ही रह जाते हैं। जोशी ने बडी कुशलता से इस शैली का निर्वाह किया है। चरित्र-सम्बन्धी विशेषताओं को स्थायित्व प्रदान करने के लिये उनकी आत्म-विश्लेषणात्मक शैली की उपयोगिता सर्वमान्य है। सब से बढकर इस उपन्यास की विशेषता यह है कि कथाकार दो लड़कियो का आत्म-विश्लेषण कराता है पर वह कही भी नारी मनोविज्ञान के बाहर नही गया। लेखक की प्रतिभा और उसके जीवन-दर्शन की यह बहुत बड़ी विशेषता है। निरञ्जना वेश्या माँ तथा हत्यारे बाप की लड़की है किन्तु इस बात को वह करीब सोलह वर्ष की होकर जानती है। इस कारण ऐश्वर्य की सुखद-गोद मे व्यतीत हुये बाल-जीवन की स्मृतियाँ उसके मन मे विशैली कीलो की तरह चुभती सी जान पडती हैं। उसे आश्चर्य होता है कि वह माँ के जीवन-काल मे ऐसी गहन मोहाच्छन्नता मे कैसे डूबी रही। इस बात से उसे ग्लानि के साथ-साथ माँ के प्रति क्रोध की भावना भी क्षुब्ध करती है। लडकी का माँ के प्रति ईर्ष्यालु होना मनोवैज्ञानिक सत्य है फिर निरञ्जना को तो एक प्रत्यक्ष पार्थिव कारण भी मिल जाता है। उसकी शिक्षा-सम्बन्धी सुविधा के रूप मे वह माँ की ममता से भी परिचित है। माँ के सामने वह डा० ओमप्रकाश से बहुत हिलीमिली थी किन्तु माँ मरते समय उसे एक दूसरे ही व्यक्ति को सौंप जाती है, यह भी उसके लिये रहस्यमय पहेली है। इन सब ग्लानियों और खिन्नताओं का द्वन्द्व उसे विकल-विह्वल कर देता है। उसका बाल-काल स्वप्नछाया से घिरा हुआ अवास्तविक जगत् की रगीन सैर मे बीता

आधुनिक

था वह इतनी आत्मलीन थी कि उसने दीन दुनिया की चिन्ता नही की। माँ की मृत्यु के बाद उसके भ्रान्त माया स्वप्नो का जाल छिन्न-भिन्न होकर उसे जीवन की कठोर और ठोस सतह पर रख देता है, यही से उसके जीवन का नया अध्याय शुरू होता है।

उसके तरुण-हृदय की अनन्त आकाँक्षाये ऊपर उठने का जोर भरती हैं उसकी हीनता-भावना उसे नीचे दबाने का प्रयत्न करती है, उसके भीतरी तथा बाहरी दोनो जीवनो मे एक विकट संघर्ष आ जाता है। उसकी स्वाभाविक प्रकृति और उसकी परिस्थितियो के वाह्य स्तर से उसके भीतर का व्यक्तित्व लडने लगता है। अपने अहवाद की प्रेरणा से वह अपनी जीवन की अनुभूतियो को जन-साधारण के स्तर से बहुत ऊँचा समझती है साथ ही वेश्या माँ और खूनी पिता की लडकी होने की सामाजिक निम्नता को भी वह नही भूल पाती। उसके अहवाद की दोनो विरोधी प्रवृत्तियाँ उसे प्रतिक्षण ,परेशान करती है। जीवन की इसी स्थिति मे अपने गार्जियन मनमोहन के लडके इन्द्रमोहन से उसका परिचय होता है जिसकी अह-वृत्ति उससे भी अधिक भयकर रूप से विकसित है। निरजना तीव्रगति से उसकी ओर आकर्षित होती है, उसे देखते ही उसके रक्त का प्रत्येक कण न जाने किस अतल मे सुप्त सस्कारो के आकस्मिक जागरण के फल स्वरूप एक निराले विद्युत-स्फुरण से तरगित होने लगता है, वह स्वप्न-विमूर्छित विभ्रान्त दृष्टि से उसे देखती रह जाती है। उसका स्वाभाविक स्नेहशील नारीत्व, इन्द्रमोहन के सम्मोहक पुरुषत्व के प्रति प्रवल वेग से आकर्षित होता है किन्तु उसका अहभाव उतनी ही तीव्रता से उस आकर्षण के प्रति विद्रोह कर उठता है। सम्भवतः यह उसके एकाकी जीवन और यौवन के तकाजे के साथ इन्द्रमोहन के व्यक्तित्व का महत्व भी है। शीघ्र ही उसके चेतन मन ने, उसकी अन्तःप्रज्ञा ने, उसे इन्द्रमोहन की वास्तविकता का परिचय दे दिया किन्तु उसके हृदय का प्रत्येक अणुपरमाणु इन्द्रमोहन

की आश्चर्यमयी चुम्बक शक्ति के खिंचाव से बरबस आन्दोलित होता रहा।

मानव और चेतना का तुमुल संघर्ष, हृदय और बुद्धि का व्यर्थ विवाद। इस उद्वेलन के फल स्वरूप निरजना के अवचेतन मन का संस्कार उसकी रक्षा के लिये जग पडा और वह सतर्क हो गई। उसने सोचा कि इन्द्रमोहन की बहिने उसके यहाँ बुलाने से भी चाय पीने नही आई और उनका भाई वे धडक चला आया। "इसका कारण क्या स्पष्ट ही यह नही है कि वह एक पुरुष की हैसियत से किसी भी नारी के साथ रँगरस की बाते करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है और यह भी जानता है कि जिस लडकी के यहा आने जाने से उसकी बहिनो की सामाजिक सत्ता घट सकती है, उसके यहाँ स्वय डटकर जलपान करने, चाय पीने और पहली मुलाकात मे वेतकल्लुफ प्रेम-चर्चा चलाने से समाज मे उसका सम्मान घटने के बजाय बढ सकता है"। इस भावना से उसके अपमानित नारी-हृदय का विद्रोह—भाव जाग पडा और एक रहस्यमय कुटिल और कँटीला पथ पकडकर प्रतिहिंसा के रूप मे बाहर निकलने के लिये अधीर हो उठा।

उसने इन्द्रमोहन से खुलकर खेलने की बात मन मे ठान ली। उसे इन्द्रमोहन को इस रूप मे पाकर वही सुख-सतोष का अनुभव हुआ जो किसी शिकारी को प्रथमबार शेर के शिकार मे सफलता मिलने पर होता है। वह अपने तन की भूख और मन की तृप्ति के जीवन-व्यापी कठिन सघर्ष मे पड जाती है। प्रत्येक जीवन मे इस द्वन्द्व का समय आता है किन्तु निरजना का सारा जीवन ईसी चेतन-अचेतन के अन्तर्ज्ञान से प्रस्फुटित होता है क्योकि जीवन इतना सप्राण और चेतनायुक्त है कि वह कभी एक निश्चित गतिविधि में बाँधा भी तो नही जा सकता, वह तो नाना विरोधो की बौछारो से ही सिचन पाकर पनपता है। इसी से उपन्यासकार को

आधुनिक

व्यक्त तथा अव्यक्त दोनो पक्षों को सामने रखना पडता है, बाह्य और अन्तर की विरोधात्मक झाँकी देखनी पड़ती है। तभी वह निरतर गतिशील, अज्ञेय और विविधितामय जीवन का पूर्ण चित्र दे पाता है। कलाकार की रुचि कल्पनामय होती है, वह चर्मचक्षु और मनस्चक्षु दोनो से ससार को देखता है, अध्ययन करता है। केवल तभी, वह अनुभूति के भीतर के सत्य को सब के सामने उपस्थित कर सकता है, अन्यथा नही।

निरंजना को जन्म से सुन्दर सस्कार नही मिले, वह अह-प्रेम पूर्ण शिक्षित और बुद्धिमान नारी है। नारी-सुलभ कोमलता और करुणा का भी उसमे अभाव नही किन्तु हीनत्व-भावना की गाँठ उसके विचारो मे इतनी दृढता से लगी है कि वह उसकी प्रतिक्रिया को नही सँभाल पाती। इन्द्रमोहन भी जैसे को तैसा मिला। वह प्रेम को प्रधान मानता है, इसलिये उसकी समझ मे भय की भावना मे एक विकृत-रस लेना ही श्रेयष्कर है। वह जीवन को केवल जीवन के लिये स्वीकार करता है, मृत्यु के पूर्व रूप मे नही। वह अह भाव की पूर्ति के लिये आत्म-विनाश करने मे भी नही चूकता। इस उपन्यास के ऐसे नायक और ऐसी नायिका को लेकर जोशी आगे बढे हैं। साहस, साधना और सफलता के साथ। निरजना कहती है—"पहले ही दिन की मुलाकात से कोई व्यक्ति इस हद तक की ढिठाई का पता दे सकता है, यह बात वास्तव मे मेरी कल्पना और अनुभव के परे थी, साथ ही यह भी सत्य है कि मैने भी अपने अनजान मे उसे अधिक से अधिक ढीठ बनने को प्रोत्साहित किया था। पर क्यों ? मेरे अन्तस्तल के किसी अज्ञात कोने मे वासना का अगार धधक रहा था जो स्वय राख मे परिणत होने के पहले दूसरे की आत्मा को भी दग्ध करने के लिये बेचैन हो उठा था"।

दोनो अपनी ऐसी विरोधी धारणाओं को लिये मिलते जुलते रहते हैं, अपनी-अपनी घात में। निरंजना के घरेलू गुरू चन्द्रशेखर

से भी इन्द्रमोहन का साक्षात्कार होता है और इन्द्रमोहन उनका मजाक उडाता है मगर निरजना उसे नापसन्द करती है। गुरू के प्रति निरजना का यह आन्तरिक पक्षपात इन्द्रमोहन को विद्वेष की विभीषिका मे छोड देता है।

इधर निरजना को मनमोहन से भी सुलझना पडता है क्योंकि वह एक दिन साफ साफ कहता है—"तुम्हारा सौन्दर्य केवल आश्चर्यजनक ही नही बल्कि अविश्वनीय और अप्रत्यासित सा भी लगता है, आश्चर्य है कि अपनी इस विश्वविजयी शक्ति से तुम स्वय अपरिचित हो या उसके प्रति उदासीन हो, तुम यह नही जानती कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति ममता का भाव किस हद तक वर्तमान है"। निरजना ने शीघ्र मनमोहन की इस सरसता को मरुस्थल मे परिणत करने के लिये अपने और इन्द्रमोहन के परिचय का समाचार उसे सुनाया। मनमोहन की हवाइयाँ उडने लगी और उसने इन्द्रमोहन की निन्दा करनी प्रारम्भ की तथा निरञ्जना को उसका साथ न करने के लिये आगाह किया। निरजना ने अपनी विश्वविजयी शक्ति की परीक्षा के लिये इन्द्रमोहन से और अधिक हेल-मेल बढ़ाने की बात सोची। मनमोहन को पीड़ित करने के लिये इन्द्रमोहन का उपयोग किया और इन्द्रमोहन को परेशान करने के लिये अपनी कुटिल सतर्कता का।

इस स्थिति मे काश कि वह अपने गुरू की परामर्श का लाभ उठाती किन्तु समय रहते वह क्षुधा-तृष्णामय वास्तविक जीवन से दिलचस्पी नही ले सकी, उन्हे जीवन की मिट्टी से परे समझ कर केवल उनके उपदेशों के प्रति भक्त बनी रही, यद्यपि गुरू ने अपनी आत्मीयता का साकेतिक परिचय भी दे दिया था। निरंजना अपनी द्विविधामयी उलझनो मे उलझी हुई इन्द्रमोहन का साथ देती रही, नुमायश भी उसके साथ गई। उसी रात को इन्द्रमोहन ने उसके बॅगले में आकर गुरू पर गोली चलायी। उसकी विफलता के प्रतिशोध

आधुनिक

स्वरूप, गुरू ने उसे क्षमा करके उस बात को पुलिस तथा ससार से छिपा रखा। इन्द्रमोहन इस बात से बहुत प्रभावित हुआ और प्रत्यक्ष रूप से निरंजना के प्रति विमुख होकर उसे पाने की एकान्त साधना में जुट गया, अनाथ स्कूल में गुरू को सहयोग देने लगा।

निरजना इन्द्रमोहन की सारी विकृतियो के साथ भी उसे भुला नही पाती, अन्तःसलिला की भाँति उसके हृदय मे इन्द्रमोहन की ममता तथा आकर्षण का प्रवाह बराबर बहता रहा। उसके शारीरिक-सौन्दर्य के जादू से वह अपने को मुक्त नही कर सकी। कभी कभी वह सोचने लगती है—"मेरे भीतर वेश्या के सस्कार पूर्णमात्रा में वर्तमान हैं यदि ऐसा न होता तो मै इन्द्रमोहन जी को अपनी भाव भगिमा से उस तरह रिझाने की चेष्टा न करती और उन्हे इच्छानुसार नचाकर अकारण परेशान न करती और होटल वाली घटना और उसके बाद की दुर्घटना का कारण न बनती"। शायद इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप वह मनमोहन को उसकी लालसा के लिये बुरी तरह से डाँटती फटकारती है और स्वय गुरू की आज्ञानुसार अपने को सामाजिक महत्ता देने की साधना मे लग जाती है, यूनीवरसिटी हास्टल मे भरती होकर पढने लगती है।

यही शीला उसको उसकी माँ के प्रतीक स्वरूप मिलती है, जो निरजना को बहुत मानती और प्यार करती है। शीला अपना सर्वस्व देकर भी निरजना को प्रसन्न करने की इच्छा रखती है। दोनो की मित्रता अद्वितीय है। दो साल साथ रह कर दोनों अलग हो जाती हैं। शीला की शादी इन्द्रमोहन से हो जाती है। शीला अपनी प्राणप्रिय निरजना के व्यक्तित्व का आश्चर्यजनक साम्य इन्द्रमोहन से पाकर बहुत सुखी होती है और एक भारतीय पौराणिक नारी की भाँति उसके साथ अपना सुखमय जीवन व्यतीत करने लगती है।

प्रायः पाँच वर्ष बाद दोनो साथिने मसूरी में अचानक मिल जाती हैं, साथ मे इन्द्रमोहन को देख कर निरजना को एक भय और विस्मय-विषाद

मिश्रित भावना धर दबाती है, पर वह शीघ्र शान्त हो जाती है। तीनों मिलते हैं। निरंजना की आत्मा की एक अज्ञात और रहस्यमय मूलगत ममता इन्द्रमोहन के प्रति फिर जाग पड़ती है, इन्द्रमोहन के परिवर्तित स्वभाव की शालीनता उसे और भी तीव्रता दे देती है, इसमें सन्देह नही। इन्द्रमोहन बड़ी सावधानी से इसवार निरजना के मन पर अधिकार जमाना चाहता है। दोनो प्रायः मिलते जुलते रहते हैं। शीला इसको ताड़ जाती है, दोनो के पूर्व परिचय के रहस्य, सन्देह और विद्वेष की आग से उसका मन जलने लगता है। वह दिन प्रति दिन उन्मन, उदास और रुग्ण होती है, जैसे अपनी इच्छानुसार निरजना के सुख के लिये धीरे धीरे अपना सर्वस्व छोडने की तैयारी कर रही हो।

निरजना और इन्द्रमोहन नाच रग तथा केलि-क्रीडा में अपना समय व्यतीत करते हैं। निरंजना को पता नही कि अब का इन्द्रमोहन तब के इन्द्रमोहन से भी भयकर है, अब उसकी लालसा सहृदयता के आधार पर खड़ी है बर्बरता की कठोर भूमि पर नहीं, जो किसी को भ्रम में डाल सकती है। निरंजना उसके निकट मानसिक और शारीरिक संस्पर्श की उस सीमा मे प्रवेश कर जाती है जो उसकी मर्मघाती वेदना और चेतनातीत आनन्द के बन्द कपाटो को खोल देती है। इसी समय इन्द्रमोहन उसकी तरफ व्याकुलता भरी करुण-दृष्टि से देखता हुआ अपनी चरम सफलता का प्रस्ताव करता है, प्रार्थना करता है, बल प्रयोग और उच्छृंखलता नही दिखाता।

निरंजना उसके प्रस्ताव को शीला के प्रति अन्याय कह कर टाल जाती है किन्तु इन्द्रमोहन कहता है—निरजना भगवान के लिये ऐसा अंधेर न करो, इतनी दूर मुझे खीचकर मझधार मे न छोडो, थोथी भावुकता के फेर मे पडकर मेरा सर्वनाश न करो, इस समय तुम शीला को कहाँ से घसीट लाई? निरंजना अज्ञात तथा रहस्यमय प्रेरणा के जोश मे कह गई—"शीला के प्रति मेरे हृदय मे बराबर एक सच्चा सम्मान

आधुनिक

और सहृदय आत्मीयता का भाव वर्तमान रहा है, मै सोच कर स्वयं आश्चर्य मे हूॅ कि अपनी किस भयकर मनोवृत्ति से प्रेरित होकर मैं इतने दिनो तक सब कुछ समझते हुये भी शीला को इस हद तक मार्मिक चोट पहुॅचाने मे समर्थ हुई। शीला अत्यन्त अनुभूतिशीला और समझदार है, वह ओछी नही है इसलिये कभी अपने मन की वास्तविक वेदना को प्रकट नही होने देगी पर उसकी प्रकृति की उस सुरुचि और संयम का इस तरह अनुचित लाभ उठाना वास्तव मे हम दोनो की निपट हीनता का परिचायक है। मै वास्तव मे उसकी परम शत्रु हूॅ, फिर भी मै उस शत्रुता को चरम सीमा तक नही पहुॅचाना चाहती। विश्वास मानिये इस समय मुझमे आपसे कुछ कम उन्माद नही समाया हुआ है पर मेरे प्रतिरोध का केवल कारण शीला है। जब तक शीला जीवित है तब तक आप मुझसे हर्गिज ऐसी आशा न करे"। अपनी इस बात की मूल मे छिपे अवचेतन मन के अत्यन्त गहन और भयंकर उद्देश्य को उस समय निरजना नही समझी, मगर इन्द्रमोहन उसे ताड गया। कुछ दिनो बाद शीला के साथ मंसूरी से वापस चला गया। निरजना भी वापस आ गई।

अचानक एक दिन इन्द्रमोहन बडी दाढी रखे, फटी पुरानी गदी पोशाक पहिने और उदास-भाव मे डूबा निरजना के पास पहुॅचा और शीला की हार्ट फेल हो जाने से मृत्यु का समाचार दिया। शीला की मृत्यु के सम्वाद से निरजना को बहुत भारी सदमा पहुॅचा पर इन्द्रमोहन की मर्मघाती विह्वलता देख कर वह अपना शोक भूल गई। उसके मन मे इन्द्रमोहन के प्रति एक वास्तविक सम्मान और सभ्रम का भाव उत्पन्न होने लगा। यह सोचकर कि शीला की मृत्यु ने यथार्थ मे उसे मर्मघात पहुॅचाया है, वह उसके प्रति श्रद्धा से गद्गद होने लगी और जब इन्द्रमोहन ने यह भी बताया कि यदि वह शीघ्र भारत की सीमा पार करके नैपाल न पहुॅच गया तो एक षडयन्त्र के मामले के सिलसिले मे उसकी जान बचना मुश्किल है तब तो निरजना और भी सदय हो उठी।

इन्द्रमोहन ने यह भी कहा कि वह नैपाल केवल तभी जा सकता है जब स्वय निरंजना उसके साथ जाय। निरजना के अन्तर्वासी का जो कंठ इतने दिनो तक एक दम अवरुद्ध था वह सहसा खुल गया और उसने तत्काल कहा—"आप मुझे जहाँ चलने को कहेगे मै चलूँगी, इन्द्रमोहन जी मृत्यु पर्यन्त आपका साथ न छोड़ूँगी"। संयोग से शीला की मृत्यु की भाँति इन्द्रमोहन की मृत्यु की भी अज्ञात सूचना उसके कथन मे एक मूल-छाया की तरह छिपी थी। भावावेश का यह करुण समर्पण निरजना के नारीत्व का ही गौरवमय पक्ष था। इतने दिनो से उसके अन्तस्तल के काले गह्वर मे दबी हुई प्रेम-वेदना इन्द्रमोहन के इस चरम संकट के क्षण मे करुणा के सहारे मुक्त होकर प्रवाहित हो उठी। ठीक भी है, मनुष्य केवल विचारो और बुद्धि के सहारे अपना जीवन चला भी तो नही सकता, प्रायः उसकी रागात्मक वृत्तियाँ ही पथ निर्देशिका बनती हैं।

निरजना अपनी सारी बौद्धिकता के साथ भी अपनी आवेगमयी रागात्मक प्रवृत्तियो से ही सचालित होती है, यही उसके नारीत्व की विशेषता भी है, जो उसके जीवन को गति देती है। नैपाल यात्रा की ट्रेन मे उनका प्रथम और अन्तिम प्रणय-मिलन हुआ और वही इन्द्रमोहन के जीवन का अन्तिम अध्याय भी लगा। निरंजना चीख मारकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ी, किन्तु अब क्या होता है?

घर वापस आकर उसने गुरू से सारा किस्सा बताया और गुरू ने बडी गम्भीरता से उत्तर दिया—"भाग्य के रहस्यमय नियमो की मुझे कोई जानकारी नही है फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि जिन दुर्घटनाओं का तुमने उल्लेख किया है उनके मूल मे है, वर्तमान अहवादी युग की कूट मनोवृत्ति। आधुनिक बुद्धिवादी युग मे मनुष्य ने अपने अहभाव का विकास आवश्यकता से इतना अधिक कर लिया है कि उसके फल स्वरूप पौराणिक भस्मासुर की तरह

आधुनिक

विनाश के पथ की ओर बढता चला जाता है। मै तुमको और इन्द्रमोहन को इस युग की व्यर्थता के चरम निदर्शन मानता हूँ किन्तु तुम्हारी प्रकृति के वाह्य स्तरो के नीचे तुम्हारा जो वास्तविक व्यक्तित्व दबा पडा है उसके प्रति मेरे मन मे प्रारम्भ से ही एक सम्मान का भाव रहा है। मालूम होता है कि नाना सघर्षो और दुर्घटनाओ के पीड़न से तुम्हारा वह मूल व्यक्तित्व उभरने लगा है।. माता बनने की सम्भावना को तुम चरम दुर्गति समझे बैठी हो, वही तुम्हारे जीवन का सबसे बडा दिन सिद्ध हो सकता है। उस प्रथम और अन्तिम प्रेम मिलन के फल स्वरूप मातृत्व की जो स्थिति तुमने पाई है उसे ग्लानि का कारण न समझकर गौरव के रूप मे ग्रहण करना तुम्हारा कर्तव्य है। ज्वलन्त प्रेम के जीवित स्मृति चिन्ह के रूप मे जो धन तुम्हे सौपा गया है उसे अस्वीकार न करके तुमने वास्तव मे अपने नारीत्व को महिमान्वित किया है, अब से स्नेह, प्रेम और कल्याण की भावनाये तुम्हारे जीवन के चारो ओर मगल वितान तानना प्रारम्भ कर देगी"।

निरजना, मगल-मूर्ति, देवदूत गुरू की बात मानकर अपने को मातृ- पथ पर अग्रसर करना स्वीकार कर लेती है, ऐसी स्थिति मे उसके लिये कोई दूसरा साधन भी नही था। यही उपन्थास की समाप्ति है। दुख के शिशिर से सतप्त जीवन, सुख के मलय पवन का स्पर्श अनुभव करने लगता है। महाकाव्यों तथा उपन्यासो मे नायक-नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उपनायिकाओ का भी स्थान होता है किन्तु कभी कभी कथानको मे इन सब के अलावा नायक या नायिका के साथ एक मगल मूर्ति पात्र और होता है, जैसे निरजना का गुरू। ह्यूगो के 'ला मिजरेविल्स' मे 'विशप आफ डी एसा' रवीन्द्र के 'घरे बाहिरे' मे नायक का अध्यापक इसी तथ्य के समर्थक हैं। उनका कथानक से कोई सीधा सम्बन्ध न होने पर भी उनके व्यक्तित्व की मगलमयी

आभा पूरे कथानक को अपनी स्निग्ध-स्वच्छ छाया से आच्छादित किये रहती है।

जोशी की नायिका कारुण्य में कालिदास की शकुंतला से होड लेती है, शकुन्तला तप के तेज से प्रोज्ज्वलित है और निरजना तपन तपस्या से निर्मल। शकुन्तला अन्त मे पत्नी और मॉ दोनो होती है किन्तु निरजना .केवल मॉ, शायद इसीलिये वह अधिक करुणा-कोमल है। कालिदास का नायक दुष्यन्त अपनी विस्मृति के अभिशाप से मुक्त होकर जीवन मे सुखी होता है पर इन्द्रमोहन अपनी विभ्रान्ति का त्यागमय चरम विकास। उसके बाहर और भीतर एक सा होने के कारण वह लोगो की घृणा की अपेक्षा दया का ही अधिकारी है।

जीवन के गहरे और गुरुतर सत्य की आधार करुणा, निरजना मे और आवेशमयी आत्मत्याग की भावना इन्द्रमोहन मे अपनी साकारता पा लेती है। इस प्रकार जोशी ने मानव मन के जिन गूढ और अज्ञात मनोवैज्ञानिक स्वरो को जनता के सामने रखकर अपने भावो के स्वाभाविक विकास-विनाश का स्वरूप दिखलाया है वह आधुनिक जीवन के समझने का सुन्दरतम साधन है, इसमें सन्देह नही। इनके सभी पात्र आत्मनिर्माण को पूर्ण प्रगति देते हैं, वह जीवन के कटु तथा कुरूप यथार्थ में चलते हैं उससे सहयोग करने के लिये नही, विद्रोह करने के लिये, उसमे संतुलन का स्वर भरने के लिये।

नर-नारी के ज्ञात-अज्ञात, नीरव-सरव वेदनाओ की यह वास्तविक विकलता-विफलता और मानवीय गहन प्रवृत्तियो की यह साहित्यिक प्रतिष्ठापना हिन्दी के लिये अभिनन्दनीय है। कला की यह विश्वासात्मिका पात्रो के द्वारा सम्पूर्ण मानवता का स्वर ऊँचा करती है और पाठको को जीवन की सचाई की ओर प्रेरित करती है। अरस्तू ने कहा है—"कलाकार जीवन की विभीषिका और करुणा के यथार्थ मार्मिक प्रस्फुटन से मनुष्य की आत्मा का संस्कार और परिमार्जन करता

आधुनिक

है"। जोशी को भी कला का यही सत्य मान्य है, यह मेरी दृढ़ धारणा है।

'पर्दे की रानी' मे सहज प्राकृतिक सविधान, कहानी को अधिक मार्मिकता तथा पात्रो को अधिक सजीवता और स्पष्टता देने के अलावा जीवन और जगत् की द्वन्द्वात्मक विशालता का सहज ही परिचय दे जाते हैं, वातावरण का सफल और मनोरम चित्रण अपनी एक अलग विशेषता रखता है। पहिले कहा जा चुका है कि आधुनिक उपन्यास-साहित्य की रुचि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक है। कहानी की मनोरजकता, घटनाओं की योजना आदि पर उतना ध्यान न देकर आज के कलाकारो की दृष्टि चरित्र-अध्ययन पर ही अधिक सजग रहती है किन्तु जोशी ने आदिमकाल के आदर्श, मध्यकाल के रोमान्स और आधुनिक काल के वैज्ञानिक यथार्थ का जो सामजस्य उपस्थित किया है, वह पाठको की हार्दिक सहानुभूति और आत्मीयता के अधिक समीप पड़ता है और यही कलाकार की चरम-सफलता है।

अन्त मे यह कह देना अनुचित न होगा कि इस उपन्यास की नायिका निरजना ही कथाकार की मानस-प्रतिमा है, उसी को कलाकार की सहृदयता का सुख मिलता है। सागर जैसा, ऐसा गम्भीर कारुण्य अन्यत्र कहाँ मिलता है? सकुचित दृष्टि वाले यथार्थवादियो की भाँति जोशी ने इस वेश्या पुत्री की नग्न अवतारणा नही की, परिस्थितियो की विवशता से पराजित विकलता को एक करुणार्द्र समवेदना दी है। वेश्याओ मे भी हृदय होता है, आत्मसम्मान होता है और सबसे बढ़ कर होता है मानापमान का भाव, इसका अनुभव कितने व्यक्ति करते हैं? समाज तथा ससार ने उन्हे अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाने के अतिरिक्त उनके लिये और किया ही क्या है? जोशी ने इस स्तर के प्राणी को अपने कथानक के माध्यम से जो ममता दी है, वह स्तुत्य है।

¹ कथासाहित्य

इस उपन्यास में वही प्रकाश-पुंज है, उसके मातृत्व की महिमा मे उसकी सारी विकृतियॉ इस प्रकार समाहित हो जाती हैं जिस प्रकार विश्व का कोलाहल आकाश की पलको मे। 'पर्दे की रानी' के जीवन के इस दृष्टिकोण के साथ हम उसकी विवेचना समाप्त करेंगे—"जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिये अपनी मानसिकता को हमें जन-साधारण की उस स्वस्थ, सबल, सहज और स्वाभाविक बुद्धि के स्तर पर लाना होगा जिसका विकास किसी प्रकार की कृत्रिम शिक्षा और संस्कृति द्वारा नही, वल्कि जीवन के मूल उपादानो द्वारा हुआ है"। जोशी जी का नया उपन्यास 'प्रेत और छाया' छप रहा है। जीवन के वास्तविक केन्द्र मे खड़े होकर उसकी वाह्य और आन्तरिक प्रवृत्तियो के मनोवैज्ञानिक प्रकाशन मे वह अद्वितीय है।

वृन्दावन लाल वर्मा

वृन्दावन लाल ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। व्यक्तिगत जीवन की सीमित परिधि से मुक्त होने के लिये मनुष्य के पास दो प्रधान साधन हैं—पहला, आगत भविष्य मे सामूहिक सुख की स्वस्थ कल्पना और दूसरा अतीत के आकर्षणमय जीवन की उद्‌भावना। दूरस्थ अतीत जीवन की मनोरम झाँकी देकर अपनी कल्पना से उसे कथानक के रूप मे उपस्थित कर देना ही ऐतिहासिक उपन्यासकार का सबसे बडा कार्य है। ऐसे उपन्यासो मे भावन की अपेक्षा तथ्य का प्राधान्य रहता है क्योकि इतिहास की बात को प्रमाणित करना पड़ता है और भाव की बात को सञ्चारित। भाव, प्रकाशन अथवा उद्वेलन के लिये बहुत प्रकार के आभास-इङ्गितो की आवश्यकता पडती है किन्तु इतिहास की बात को केवल प्रमाणों के साथ समझाकर कह देने से काम चल जाता है। भाव मनुष्य मात्र का होता है, उसमें व्यक्ति, जाति अथवा समय की सीमा का उतना प्रतिबन्ध नही रहता जितना इतिहास मे रहता है। यही कारण है कि भावों के द्वारा हम नित्य सत्य को और इतिहासो के द्वारा केवल युग-सत्य को चीन्हते पहचानते हैं। इतिहास की सीमा व्यतिक्रम करने का अपराध ऐतिहासिक उपन्यास लेखको के आदि और आदर्श स्काट पर भी लगाया जाता है क्योकि इतिहास के विशेष सत्य और साहित्य के शाश्वत सत्य की सम्मिलित रक्षा कर सकना सहज नही होता। प्रसन्नता की बात है कि वर्मा जी ने इस कार्य मे बहुत कुछ सफलता पाई है।

कथानक के द्वारा ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा और कल्पना के द्वारा कहानी की रमणीयता तथा रोचकता बनाये रखने

में ये बहुत ही निपुण हैं। "हाँ यदि कोई व्यक्ति ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की उस विशेष गन्ध और स्वाद से ही एक मात्र सन्तुष्ट न हो और उसमे अखन्ड इतिहास को निकालने लगे तो वह शाक के बीच मे साबित जीरे, धनिये, हल्दी और सरसो ढूढेगा। मसाले को साबित रखकर जो व्यक्ति शाक को स्वादिष्ट बना सकते हैं, वे बनाये और जो उसे पीसकर एकसम कर देते हैं, उनके साथ भी हमारा कुछ झगडा नही, क्योकि यहाँ स्वाद ही लक्ष्य है, मसाला तो उपलक्ष्य मात्र है"। लेखक चाहे इतिहास को अखन्ड रखकर उपन्यास रचना करे या उसे काट-छाँट कर, यदि वह 'इतिहासिक रस' की अवतारणा कर सके, तो वह अपने उद्देश्य में सफल है। वर्मा जी की सफलता भी ऐसी ही है क्योकि पाठक को उनके उपन्यासो मे इतिहास का सत्य और साहित्य का आनन्द दोनो प्राप्त होते हैं।

'सुधि बसे ससार के होते सभी मधुमय मदिर क्षण' की युक्ति के अनुसार अतीत को प्यार करना, उसका स्मरण करना, मानव स्वभाव की बात है। दूर अतीत की विस्मृति मे विलीन घटनाओ का उद्घाटन करने की प्रवृत्ति ऐतिहासिक उपन्यास की मूल चेतना है किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार का क्षेत्र केवल बीते हुये सत्य की वैज्ञानिक खोज की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक होता है। इतिहासकार घटित सत्य की कठोरता से जकडा रहता है, किन्तु उपन्यासकार अतीत के धुँधले और अस्पष्ट चित्रो को अपनी भावुकता और कल्पना के समुचित प्रयोग से स्पष्ट और शृखलित करता चलता है।

हमारे देश के अनेक युग ऐसे हैं जिनके विषय मे इतिहास का अनुसन्धान बहुत कम है क्योकि अनेक छोटी किन्तु मार्मिक घटनाओं को इतिहास तुच्छ और साधारण समझ कर छोड देता है। उपन्यासकार उन्ही को जीवन देने मे समर्थ होता है। ऐतिहासिक उपन्यासो की महत्ता तथा सफलता का यही रहस्य है। हिन्दी के लेखक इस ओर से

आधुनिक

कुछ उदासीन से रहे हैं। बीते दिनो को प्यार से अपनाने वाले प्रसाद भी इस विषय मे मौन ही रहे। 'प्रेमचन्द ने वर्तमान परिस्थितियो के विश्लेषण मे ही अपने उपन्यासो की सार्थकता समझी। निराला ने इस ओर का प्रयास अपने 'प्रभावती' उपन्यास मे करने की चेष्टा की किन्तु वे भी उसे आगे नही बढा सके, इस प्रकार हिन्दी मे, यह क्षेत्र बराबर उपेक्षित सा रहा है।

हिन्दी साहित्य के इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न करने वाले उपन्यासकारो मे वर्मा जी अग्रगण्य हैं। उन्होने अतीत तथा वर्तमान दोनो को अपनी प्रतिभा का प्यार दिया है। 'गढकुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' उनकी अतीत-प्रियता के प्रतीक हैं और 'लगन' 'कुडली चक्र' तथा 'प्रेम की भेट' उनके वर्तमान-बोध की व्याख्या। यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि बगाल के 'करुणा' और 'शशाक' की भाँति हिन्दी मे ऐतिहासिक उपन्यास अब भी नही है। वर्मा जी की तुलना राखाल बाबू से करना ठीक नही है क्योकि दोनो के इतिहास-बोध, उद्देश्य और दृष्टिकोण मे बहुत अन्तर है।

राखाल बाबू पुरातत्व और इतिहास के पूर्ण पडित थे, उनका सारा जीवन हिन्दूकाल के ऐतिहासिक अध्ययन, प्राचीन सिक्को की जॉच-पडताल और शिलालेख आदि विविध सामग्री की तलाश मे बीता था। भूगर्भ-शायी अतीत-गौरव की आकुल अभिलाषा से वह भारत के अनेक स्थानो मे घूमते फिरते थे किन्तु वर्मा जी के विषय मे यह बात नही कही जा सकती है। फिर भी 'स्वर्गादपि गरीयसी' प्राण-प्यारी जन्मभूमि बुदेलखन्ड का अतुलनीय प्यार लेकर वर्मा जी ने इस क्षेत्र मे प्रशसनीय कार्य किया है। राखाल बाबू की तरह वर्मा जी की दृष्टि एक युग की परिस्थितियो के पुनर्निर्माण पर नही है, इनका उद्देश्य उससे भिन्न है। भारत के स्वर्णयुग गुप्तकाल

की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का विशद चित्रण करना ही राखाल बाबू का चरम लक्ष्य था। इसलिये एक पूरे उत्तरापथ मे फैले साम्राज्य को उन्होने अपना आधार बनाया था। वर्मा जी केवल अतीत की याद करना चाहते हैं उसका पुनर्निर्माण नही क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य बीती कहानी कहना है। वस्तुतः वर्मा जी का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा है। उनकी ऐतिहासिक घटनाये बुदेलखन्ड की सीमा तक ही परिमित हैं। क्षेत्र के इस सकोच ने वर्मा जी की कला में वह मार्मिकता ला दी है जो विस्तार की बहुलता मे सभव न होती।

ड्यूमा ने फ्रास के इतिहास को अपनी रोमान्स-माला में पिरोकर इतिहास के साथ अपने को भी अमर कर दिया है। स्काट तथा ड्यूमा की सफलता और सर्व-प्रियता का सब से महान् कारण उनकी कल्पना शक्ति के द्वारा हृदय-स्पर्शी स्थलो की कथात्मक सयोजना है। इन लेखको ने इतिहास की जीर्ण-शीर्ण काया मे जिस मॉसलता और चेतनता का संचार किया है, वह वास्तव मे अद्वितीय है।

हमारे देश मे भी कल्पना को गतिशील और लेखनी को मुखर बनाने वाले प्राकृतिक दृश्यो और मानवीय मार्मिक परिस्थितियो से सिक्त कथानकों की कमी नही है, कमी केवल उन स्थलो की खोज करने वालों की है। वर्मा जी ने इस ओर बडी सफलता से अपनी कल्पनाशक्ति का प्रयोग किया है। वर्मा जी के उपन्यासो की सब से बड़ी विशेषता उनके ऐतिहासिक रोमान्स हैं। इतिहास के आधार से सुगठित प्रेम-कहानी की सजीव और मर्मस्पर्शी उद्‌भावना मे वे अकेले हैं। इसीकारण उन्हे अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे इतिहास से अधिक कल्पना और जनश्रुति का सहारा लेना पड़ा है।

अपनी कल्पना को सजीव करने के लिये वर्मा जी ने बुदेलखन्ड के ऐतिहासिक स्थानो का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करने मे भी कसर नही रखी। स्वभावतः वे जिस समय और स्थान का वर्णन करते

आधुनिक

हैं वह पाठकों के सामने अपनी सारी चित्रोपमता के साथ उपस्थित होकर वातावरण की सृष्टि करने मे सहज ही सहायक सिद्ध होता है। वर्मा जी के उपन्यासो के पढने से पता चलता है कि जिस समय का कथानक वे जनता के सामने रखना चाहते है, वह उनकी मानसिक दृष्टि के सामने बहुत ही स्पष्ट और सुलझा हुआ है। उनके कथानक मे आने वाले सभी स्थल स्वाभाविक रूप से विस्तार के साथ पाठकों के सामने उपस्थित होते हैं। चौदहवी शदी के युद्ध का वर्णन पढते समय ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपने सामने तलवारो की चमक, गोलियों की सनसनाहट, आहतो की आकुल चीख, विजेताओ का अभिमानपूर्ण आह्लाद-गर्जन और युद्ध का सारा कोलाहल देख-सुन रहे हैं। वर्णन की इस चतुर-प्रणाली से उपन्यासों की प्रभावोत्पादकता तथा विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता साकार सी हो उठती है और पाठक देशकाल से पूर्णतया परिचित और वातावरण से एकरस हो जाते हैं।

वर्मा जी अपने प्रान्त से परिचित हैं। उन्होने अपने कथानको के घटनास्थलो मे अनेकवार भ्रमण किया है, उन स्थानो के भग्नावशेषों पर बैठकर वहाँ की अतीत घटनाओं को स्मृति के सहारे जगाया है। फलतः उनके वर्णन विश्वासोत्पादकता में अपना जोड नही रखते। उनकी लडाइयाँ, किताबी खिलवाड नही हैं, उनकी प्रणय लीलायें, सम्पन्न व्यक्तियो की दिमागी ऐयासी की उफान नहीं वरन् प्राणो को लेने-देने वाली सजीव और स्वाभिमानी व्यक्तियो की जीवन परिस्थितियाँ हैं। वीर बुन्देलो की वास्तविक प्राण-प्रेरणाये उनकी लेखनी मे उतर आयी ह। वर्मा जी की लेखनी मे वर्णन की शक्ति, भाव-प्रकाशन की कलात्मकता, चरित्र-चित्रण की क्षमता और कथानक की मर्मस्पर्शिता पहचानने के साथ साथ कहानी मे आकर्षकता लाने की अपूर्व शक्ति है। चौदहवीं शदी के बुन्देलखन्ड के इतिहास के साथ

उनकी कल्पना का सम्मेलन बहुत ही स्वाभाविक और सहज रीति से हुआ है।

वर्तमान झासी के पास ही कुंडार गढ़ है। उस समय वहाँ खँगार राजा राज्य करते थे। बुन्देले इनको नीच वंश का समझते थे और गुप्त रीति से नाना प्रकार के षड्यंत्रो द्वारा इनके समूल विनाश का प्रयत्न करते थे। बुन्देले और खँगार वीर, पारस्परिक द्वेष, जात्याभिमान और असंयम के कारण जुझौती के मैदान मे किस प्रकार आपस मे जूझ मरे, यही 'गढकुंडार' उपन्यास का दृष्टि-बिन्दु है। भयानक युद्ध और रक्तपात के बीच मानवीय स्निग्ध भावना प्रेम की अभिव्यक्ति ही इस उपन्यास की प्राण प्रतिमा है, इसमे सन्देह नही।

इस तुमुल कलह कोलाहल के बीच प्रेमी-प्रेमिकाओ की करुण और दुखान्त अभिव्यञ्जना पाठको के प्राणो को तरगित करने मे अपूर्व है। वीरता के दर्प और उद्देश्य की क्षुद्रता के बीच तारा और दिवाकर की प्रेम-गगा इस प्रकार प्रवाहित होती रहती है जैसे सघन वृक्षों से आच्छादित कठोर शिलामय वन भूमि मे किसी सरिता की अजस्र जलधारा। इस प्रकार गढ़कुडार ऐतिहासिक घटनाओ के साथ-साथ मानव-चरित्र की चिरंतन समस्याओ पर भी तीव्र प्रकाश डालता है। दिवाकर और तारा का प्रेम केवल उस समय का ही नही वरन् आज के हिन्दू समाज का भी एक मूल प्रश्न है। अर्जुन तथा इब्नकरीम के सुन्दर चरित्र निम्न वर्गों के प्रति वर्मा जी की उदारता के प्रतीक हैं। वर्मा जी की अन्य सभी विशेषताओ के साथ उनका कहानीकार वाला रूप सर्वश्रेष्ठ है। गढ़कुंडार बडी रोचकता से कही गई एक सुन्दर कहानी है। एक घटना के पश्चात् दूसरी घटना इतनी स्वाभाविकता के साथ सामने आती है कि उपन्यासकार के कहानी-कौशल पर मुग्ध हो जाना पडता है।

संसार के रोमान्स साहित्य का परीक्षण करने से पता चलता है कि उसमे घटनाओं की प्रधानता आवश्यक होती है। ड्यूमा और स्काट के

सभी उपन्यास रोमान्टिक इतिहास घटना-प्रधान हैं। वर्मा जी के उपन्यासों मे भी यह तथ्य वर्तमान हैं। उनका चरित्र-निर्माण भी घटनाओ के माध्यम से होता है, उनकी प्रायः प्रत्येक घटना चारित्रिक विशेषता का उद्घाटन करती चलती है। स्टीवेसन ने रोमान्स को परिस्थितियो की कला कहा है, ठीक भी है क्योकि रोमान्स मे परिस्थितियो का प्राण-प्रवेग ही जीवन को गति देता है। तभी तो रोमान्स मे साहस, त्याग, वीरता और कर्मशीलता का सयोजन नितान्त आवश्यक है। वर्मा जी की रोमान्टिक प्रवृत्ति भी इसी आशय से आकुल-व्याकुल है। वास्तव में जीवन-सघर्ष की कठोरता के बीच प्रेम की स्निग्धता का निर्वाह ही सच्चा रोमान्स है। 'गढकुडार' मे तारा और दिवाकर का प्रेम 'विराटा की पद्मिनी' मे कुमुद और कुजर का प्रेम, 'प्रेम की भेट' मे सरस्वती और धीरज का प्रेम और 'कुडली चक्र' मे पूना और अजित का प्रेम—सब रोमान्स के सच्चे और शाश्वत उदाहरण हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि वर्मा जी अपने कथानक के घटनास्थलो से पूर्ण परिचित हैं। उन्हे स्थानो का केवल भौगोलिक ज्ञान नही वरन् उनका भावनात्मक परिज्ञान भी है। वेतवा के जल को स्पर्श करने वाले विराटा के कँगारो पर वे पद्मिनी की छवि का आज भी साकार स्वरूप देखते मे प्रतीत होते हैं। उस सारे वन्य प्रान्त की गढियाँ उनके सामने केवल पाषाण निर्मित खोहो के रूप मे नही वरन् जीवन को स्पन्दित करने वाली रोमान्चकारी रण-रगस्थली के रूप में उपस्थित होती हैं। प्रकृति के साथ मानवीय भाव-उद्वेलन की भाव-प्रवणता का उनका चित्रण बहुत ही हृदय-हारी होता है।

"रात का समय था, काली रात! आकाश मे तारे टिमटिमा रहे थे, पवन ने पेडो को चूम-चूम कर सुला दिया था, वेतवा अचेत पत्थरो से टकराकर अनत कल-कल शब्द रचकर रह जाती थी"। वर्मा जी का प्रकृति-चित्रण घटना क्रम से इतना मिला जुला रहता है।कि उससे एक

नाटकीय रंगमन्च की सार्थकता सहज ही साकार हो उठती है। प्रकृति के बीच मे संयोजित घटनाओ और दृश्यो के चित्र पाठको के मन में स्थायी रूप से जम जाते है। "कुमुद चट्टान की टेक पर खडी हो गई। ऐसा मालूम होता था कि मानो कमलो का समूह उपस्थित हो गया है या प्रकाश पुंज खडा कर दिया गया हो। पैरो के पैजनो पर सूर्य की स्वर्ण रेखा फिसल रही थी, पीली धोती मन्द पवन के झकोरो से दुर्गा की पताका की भाँति धीरे-धीरे लहरा रही थी बड़े-बड़े काले नेत्रों की बरौनियाँ भौहो के पास पहुँच गयी थी। आँखो से झरती हुई प्रभा ललाट पर से चढती हुई उस निर्जन स्थान को आलोकित सा करने लगी। वे चट्टाने और पठारियाँ, वह दुर्गम और नीली धार वाली बेतवा, वह शान्त भयावना सुनसान, वह हृदय को चचल कर देने वाला एकान्त और चट्टान की टेक पर खड़ी हुई अतुल सौन्दर्य की वह मूर्ति"।

प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर स्थिति यह सौन्दर्य चित्रण कितना पवित्र और आकर्षक है कहने की आवश्यकता नही।

"दोनो हाथ जोडकर उसने धीमे स्वर मे गाया—

मालिनियाँ, फुलवा ल्याओ नन्दन वन के।

उधर तान समाप्त हुई, इधर उस अथाह जल-राशि मे पैजनी का शब्द छुम्म से हुआ। धार ने अपने वक्ष को खोल दिया और तान समेत उस कोमल कठ को सावधानी से अपने कोष मे रख लिया"। कितना सजीव और स्फूर्तिमय चित्रण है। वर्मा जी के उपन्यासो मे ऐसे शब्दचित्रो की बहुलता है, जो उनकी लोकप्रियता का मुख्य और उचित कारण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्जन मन्दिर के सामने तारा का दिवाकर के गले मे माला डालना, कुमुद का माँ बेतवा की गोद मे विश्राम लेना, अजित और पूना का पहाडियो मे मिलना आदि सब ऐसी घटनाये हैं जो पाठको के मानस-पट में सदैव के लिये अकित हो जाती हैं।

इन सभी करुण कहानियो की अवतारणा इस प्रकार की गई है कि पाठक स्वय पात्रो के रूप मे अपने को देखने लगता है, यही कहानी कला की सब से बडी सफलता है। पात्रो के प्रति सहानुभूति की इसी सीमा को उभारने मे रोमान्स की सार्थकता का रहस्य निहित है, वर्मा जी इसकी सृष्टि करने मे अन्यतम है।

उन्होने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे वीरता का चित्रण, प्रेम का पराक्रम, और इतिहास के ककाल मे जीवन-सचार के साथ-साथ उस युग की आत्मा के दर्शन कराने की भी चेष्टा की है क्योकि समाज की विषमता, उच्च जातियो द्वारा निम्न वर्गों का तिरस्कार और जात्याभिमान द्वारा मनुष्यता की उपेक्षा का निदर्शन उनके उपन्यासो मे बहुत ही खूबी के साथ दिखाया गया है। जाति विद्वेष और अनर्गल आभिजात्य के अभिमान मे पडकर एक होनहार भविष्य किस प्रकार मिट्टी मे मिल जाता है, यही उनके उपन्यासो का अन्तर-प्रतिपाद्य है। वर्मा जी अपने उद्देश्य मे सर्वथा सफल हैं। शृंगार और वीर का ऐसा गगा-यमुनी सम्मेलन अन्यत्र दुर्लभ है।

वर्मा जी की इन सारी विशेषताओ की प्रशसा करते हुये भी उनकी दो चार खटकने वाली बातो की चर्चा न करना सत्य से मुँह मोडना होगा। उनकी उपमा-प्रियता कही-कही इतनी बढ गई है कि पाठक का जी ऊबने लगता है और बात की सचाई पर सन्देह भी होने लगता है। एक के बाद दूसरी उपमाओ के ढेर से वर्णन की स्वाभाविकता नष्ट होने लगती है।

वर्मा जी के पास भाषा की भी बडी कमी है, उनका कोष बहुत सीमित ज्ञात होता है। भाषा मे रवानगी का नाम निशान तक नही रहता। अनेक स्थलो मे उनके वाक्य अँग्रेजी के अनुवाद से प्रतीत होते हैं, जो हिन्दी भाषा-भाषी की आत्मा को स्पर्श नही कर पाते। भाषा

का अनुपयुक्त प्रयोग और व्याकरणीय त्रुटियाँ भी बहुत ही खटकने वाली होती हैं। 'स्वर्ण को लजाने वाली बालों की एक लट' अँग्रेजी सौन्दर्य-प्रियता का उदाहरण है। भारत मे तो काली केशराशि का ही महत्व है। इन छोटी किन्तु अत्यन्त आवश्यक त्रुटियो की ओर ध्यान देकर वर्मा जी जो भी कथात्मक सृष्टि करेंगे, वह अनुपम होगी ऐसी मेरी दृढ धारणा है। आज भी वे अपने क्षेत्र के आदर्श अगुवा हैं।

बेचन शर्मा उग्र

सभी प्रकार की कला कृत्रिम होती है किन्तु कला की सीमा तक पहुँचने के पहले कृत्रिमता स्वय एक प्रकार का प्राकृतिक स्वरूप धारण कर लेती है अन्यथा वह कला की सज्ञा ही ना पा सके। मानव की अन्तर्वृतियाँ जब केवल अतर का विषय न रहकर वाह्य-लोक में प्रवेश करती हैं, तब कला का निर्माण होता है। केवल आवश्यकता की आधार शिला छोडकर जब मानव, सौन्दर्य का भी उसमे समावेश करता है तब कला स्वय उद्भासित हो उठती है।

कला अभिव्यक्ति है। मनुष्य अपनी भावनाओ का प्रकाशन चाहता है और इसकी सफलता मे अभिव्यक्ति उसका साध्य और अभिव्यञ्जना उसका साधन है। अनेक प्रकार के माध्यमों द्वारा वह अपनी भावना को अभिव्यक्त करता है। साहित्यकार भाषा का माध्यम ग्रहण करता है अतः यह स्पष्ट है कि भाषा, साहित्यिक की अभिव्यक्ति का माध्यम है। भाव-जगत् का अक्षय और अनन्त कोष ही साहित्य का विषय है। साहित्यकार के मन मे भावनाये उठती हैं, वह उन्हे व्यक्त करना चाहता है। व्यक्तीकरण सकेतो के द्वारा सम्भव होता हैं, इसीलिये भाव को भाषा का माध्यम स्वीकार कर लेने पर भाषा की क्षमता के अनुसार अपना रूप बदलना पडता है। इस प्रकार व्यक्तीकरण, सकेत और सप्राण प्रेषणीयता साहित्यकार के प्रमुख उपादान हैं। इन तीनों का समुचित समन्वय साहित्यकार की सफलता का रहस्य है, इसमें सन्देह नही। भावना मनुष्य की अपनी है, अतः इसका विवेचन करते समय मनुष्य को इसके प्रत्येक क्षेत्र मे देखना होगा। मनुष्य व्यष्टि है और समष्टि का अंग भी। यही व्यक्ति और समाज का प्रश्न सामने आता है।

कथासाहित्य

समाजवाद के पोषक समाज मे व्यक्ति के एकत्व का एकान्त निर्वासन चाहते हैं किन्तु साहित्य मे उसकी स्वीकृत है। अतः साहित्यकार केवल सामाजिक भावना का ही प्रतीक नही, वह व्यक्तिगत भावना का भी निर्माता है। जीवन की कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी है जहाँ सामाजिक और व्यक्तिगत भावनाएँ एक हो जाती हैं किन्तु उनकी भिन्नता भी उपेक्षणीय नही है। व्यक्तिगत और सामाजिक भावनाओ की भिन्नता के ही कारण एक ही समय के दो कलाकारो की कला-कृतियाँ प्रत्यक्ष रूप से भिन्न ज्ञात होती हैं। प्रगति के अंध भक्त यह प्रायः भूल जाते हैं कि साहित्यकार (व्यष्टि) के माध्यम से समाज (समष्टि) अपनी भावना को व्यक्त करता है, और इस अर्थ मे वह कभी युग-भावना की उपेक्षा नही कर सकता। प्रगति का अर्थ आगे बढना है और इस रूप से कथा साहित्य मे उग्र जी प्रगतिशील लेखक कहे जा सकते हैं।

आज हमारे साहित्य मे यथार्थ का आग्रह बढता जा रहा है किन्तु उग्र जी बहुत पुराने यथार्थवादी हैं। आदर्श से आकंठमग्न जिस युग मे उन्होंने यथार्थ का आनयन किया था वह उनकी प्रगति का प्रबल प्रमाण है। समाज की प्रारम्भिक अवस्था मे राग की प्रधानता थी, उस समय मनुष्य का जीवन स्वाभाविक रागो की अवहेलना नही कर सकता था किन्तु ज्यो ज्यो भावना पर बुद्धि का आधिपत्य बढ़ता गया लोगो ने सहज स्वाभाविकता को छोडकर आदर्श का अनुष्ठान करना प्रारम्भ कर दिया। फल स्वरूप भावना क्रमशः स्वाभाविक की अपेक्षा बौद्धिक होती गई, कहना न होगा कि बौद्धिकता चितन का फल है। जिस प्रकार चितन शून्य प्राकृत भावना मानवीय सभ्यता की प्रथम अवस्था की सूचना है उसी प्रकार भावना शून्य बौद्धिकता उसके पाखंड की परिचायक है। वैज्ञानिक अन्वेषण और जीवन की समस्याओ के चितन ने समाज की आदर्शबद्ध भावनाओ पर आघात किया और यथार्थ का आविर्भाव हुआ। उग्र जी इस भावधारा के अगुआ बने। उन्होने

आधुनिक

कभी आदर्श को निरपेक्ष भाव से नही देखा वल्कि उसे यथार्थ से सवद्ध करने का प्रयत्न किया। उनका साहित्य केवल अचेतन सहज-वृत्ति पर ही निर्भर नही रहता, आदर्श के अनुकरण की आकुलता पर ही नही मरता, उसमे सहज-स्वाभाविक यथार्थ की अभिव्यक्ति का अनुसन्धान है।

आदर्श और यथार्थ के विषय मे यह जान लेना आवश्यक है कि पहले भाव की उत्पत्ति कल्पना मे होती है और दूसरे की जीवन मे। काल्पनिक साहित्य और कला हमारे जागरण मे सहायक नही होती वल्कि गुलामी और अय्यासी की ओर हमे प्रेरित करती हैं किन्तु यथार्थवादी कला से हमारा जीवन गति और विकास पाता है। यथार्थ को खीच कर उसका अर्थ कुरूप नग्नता लगाने वालो से मेरा वरावर मतभेद रहा है, यह स्पष्ट कर देना यहाॅ अनुचित न होगा। मै यथार्थ का, विशेषकर साहित्यिक यथार्थ का अर्थ निम्न जीवन की नग्न कुरूपता, अश्लीलता आदि का यथार्थ न मानकर जीवन और जगत् की सहज-स्वाभाविक स्थितियो का प्राकृत चित्रण मानता हूॅ। बधन से छूटा हुआ उन्मादग्रस्त पागल जब आत्म-हत्या करता है तब इसका कारण बधन से छुटकारा पाना नही होता, वल्कि उसकी उन्मत्तता होती है। उग्र जी की कृतियो का मैने इसी दृष्टि कोण से अध्ययन किया है।

विषय की दृष्टि से उग्र जी के उपन्यासो का भी वही विषय है जो प्रसाद के 'ककाल' तथा प्रेमचन्द के 'सेवासदन' का है अर्थात् समाज की अधोगति और धर्म की आड मे होने वाले घोर पाखड तथा निरीह स्त्रियो के प्रति किया जाने वाला अमानुषिक अत्याचार। परन्तु इनके दृष्टिकोण मे अन्तर है। इनका पहला उपन्यास दिल्ली का दलाल' स्त्रियो के अवैध व्यापार से ही सवध रखता है। इसके विषय मे उग्र जी का कहना है कि "अगर कोई माई का लाल सत्य के तेज से मस्तक तान यह कहने का दावा करे कि तुमने जो

कुछ लिखा है गलत लिखा है, समाज मे ऐसी घृणित, रोमाँचकारिणी, काजल-काली तस्वीरे नही हैं, तो मै उसके चरणो के प्रहारों के नीचे हृदय-पावड़े डालूँगा" पर प्रश्न यह नही है कि उपन्यास मे वर्णित बाते सत्य हैं या काल्पनिक, प्रश्न तो उनके विषय मे लेखक की आसक्ति अथवा अनासक्ति का है।

साहित्य मे सत्य सदैव सौन्दर्य और सुरुचि के माध्यम से प्रतिष्ठित होता है। महाभारतकार की युक्ति 'एक वस्त्रा रजस्वला' को पढकर पाठक का मन द्रोपदी के प्रति किये गये अत्याचार से क्षुब्ध हो उठता है क्योकि वहाँ लेखक ने अन्यायीयो के प्रति एक घृणा का भाव जगाने के लिये इसे लिखा है नकि स्वय किसी रस-निमग्नता का आस्वादन करने के लिये? उग्र जी के वासनापूर्ण नग्न प्रदर्शन तथा वर्णन मे तटस्तता की अपेक्षा तन्मयता का ही आभास अधिक मिलता है। उसे पढकर पाठक अनैतिकता के प्रति क्षुब्ध होने की अपेक्षा लुब्ध ही अधिक होगा। ऐसे अश्लील तथा कुरुचिपूर्ण प्रसगो को ससार के सामने लाने मे लेखक की जिस अनासक्ति शक्ति का स्वरूप सामने आना चाहिये, वह उग्र जी नही कर सके। सम्भवतः इसीकारण उनका यथार्थ का आग्रह स्तुत्य होते हुये भी अपनी अभिव्यक्ति मे निन्द्य हो उठा है।

वेश्यालय, मदिरालय तथा गुडालय का वर्णन बुरा नही है, पर लेखक का स्वय उसकी मोहिनी माया मे धॅस जाना निश्चय ही अवाँछनीय है। स्त्रियो का कुत्सित व्यापार करने वाले नरपिशाचो का बहुत ही प्रभावपूर्ण और यथातथ्य चित्रण उग्र जी ने किया है। भले-भले घर की भोली-भाली बालिकाये किस तरह फॅसाई और उडाई जाती हैं इसका बहुत ही विषद चित्रण उपन्यासकार ने किया है किन्तु वर्णन की शैली वैज्ञानिक की तटस्तता से दूर और रसलोलुप शृगारिकता से पूर्ण है। इसीलिये साहित्य के लिये हेय है। काश कि ये वर्णन इतने रसपूर्ण न हुये होते। फल स्वरूप उग्र जी को उश्रृंखल युवकों का प्यार और

सयत सयानों की बौछार दोनों का सामना करना पडा। कुछ लोगों ने तो इस उपन्यास को 'अछूत' तक करार दे दिया।

अपने दूसरे उपन्यास 'बुधुआ की बेटी' में उग्र जी कुछ मर्यादित रूप मे सामने आये। इसीकारण बुधुआ की बेटी दलालों के चतुर चगुल मे फॅसी हुई वेचारी स्त्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक छिपी-ढॅकी है, यद्यपि इसका आवरण भी इतना झीना है कि उसकी लज्जा बच सकना बहुत सम्भव नहीं है। इस उपन्यास मे भी समाज-कल्याण की अपेक्षा उसकी कुरूपता का विज्ञापन ही अधिक हो गया है। मिसेज यग का रंग-रस और घनश्याम तथा राधा का कलुषित प्रेम-व्यापार आदि प्रसंग अनुचित और वासनापूर्ण तथा उत्तेजक हैं। क्षण भर के लिये यदि इन सभी प्रसंगों को सत्य भी मान लिया जाय तो समाज का केवल यही यथार्थ साहित्य मे देने की रुचि, कलाकार के व्यक्तित्व की हीनता का प्रतीक है। इतनी अनोखी वर्णन शैली, इतनी चलती हुई भाषा और आकर्षक कथन प्रणाली के सिद्धहस्त लेखक होते हुये भी उग्र जी अपनी यथार्थ-प्रियता का सुन्दर रूप सामने नही ला सके अन्यथा आज वे कथा-साहित्य मे सब से आगे होते क्योंकि जेष्ठता मे प्रेमचन्द के बाद उन्ही का स्थान है।

'चन्दहसीनो के खुतूत' उग्र जी की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमे उग्र जी की भाव-धारा उद्दाम-प्रेम के साथ हिन्दू-मुस्लिम समस्या का सुन्दर चित्र उपस्थित करने मे सहज समर्थ हुई है। नरगिस का प्रेम, मुरारी का बलिदान तथा असगरी का पत्र हिन्दी कथा-साहित्य मे अपने ढग के अमर उदाहरण हैं। 'बुतखाने के परदे मे काबा नजर आता है' का हृदयहारी दृश्य वास्तव मे साम्प्रदायिकता की मस्ती मे मस्त दोनो जातियों (हिन्दू-मुसलमान) की ऑख खोलने वाला है। हिन्दी साहित्य मे यह बेजोड़ रोमास है, इसे कोई नही इंकार कर सकता।

सामाजिक बन्धनों मे जकड़े हुये युवक हृदयो की जिस आकुलता का उग्र जी ने इस उपन्यास मे उद्‌घाटन किया है, वह वास्तव मे अद्वितीय है। मनुष्य पहले मनुष्य है बाद मे हिन्दू या मुसलमान, इस सात्विक तत्व का रहस्य हमे इस उपन्यास मे बडी रमणीयता से मिलता है। 'शराबी' के नाम के अनुरूप उग्र जी इसमे कुछ बहक गये हैं किन्तु 'जवाहर' की कहानी तथा 'मानिक' का साहस कला की उत्तम कोटि मे आते है। वेश्यालय और महिरालय की विषाक्त भूमि मे इस उपन्यास की दुनिया बसाकर भी उग्र जी ने इसे बडी सावधानी से, घृणित होने से बचाया है। यह उनके परिष्कृत यथार्थ का उदाहरण है। चरित्र-चित्रण और वस्तु-वर्णन की दृष्टि से यह एक बहुत ही सफल रचना है। 'सरकार तुम्हारी आँखो में' मे मदनसिंह की सहृदयता, कामुकता एवं पाशविकता का चित्रण उग्र जी की अन्तर्दृष्टि का पूर्ण परिचय है।

'जीजी जी' उग्र जी का नवीनतम उपन्यास है। नारी-जीवन के प्रति अपने विचारो के उद्‌घाटन का प्रयत्न इसमे लेखक ने किया है। 'जीजी' का चरित्र, करुण होते हुये गतिमय है। इस उपन्यास की करुणा, शिथिलता की नही वरन् कार्य की प्रेरणा देती है। यही इस उपन्यास की सब से बड़ी खूबी है।

उग्र जी के अधिकतर उपन्यास घटना प्रधान हैं किन्तु उनमे पात्रो के चरित्रो का पूरा विकास सामने आता है। घटनाये प्रायः पात्रो के आश्रित होकर आगे बढ़ती हैं और पात्रो के क्रियाकलाप से ही उनके चरित्र का चित्र पूर्ण होता चलता है। प्रत्येक घटना का सम्बन्ध पात्रों के स्वाभाविक विकास से रखा जाता है, पर कार्यकारण सम्बन्ध मे कही कोई भूल नही होती। कथोपकथन सदैव नाटकीय ढग का सक्षिप्त और मार्मिक होता है। उग्र जी की चरित्र-सृष्टि देखने से पता चलता है कि वे पात्रो के वाह्य चित्रण की ओर अधिक ध्यान देते हैं। पात्रो के अन्तस्तल में प्रवेश करने की इनमें प्रवृत्ति नही है। यही कारण है

आधुनिक

कि उग्र के चरित्रों मे व्यक्तिगत विशेषताओं की अपेक्षा वर्गगत विशेषतायें ही अधिक मिलती हैं। इन वर्गगत पात्रों का चित्रण उग्र जी ने बड़ी सफलता और दृढ़ता से किया है।

समाज के जिस अग को वे चित्रित करते हैं उसके विषय मे उनका परिचय पूर्ण होता है। उग्र जी, न तो आगत भविष्य के आदर्श पर विश्वास रखते न गौरवपूर्ण गत अतीत पर आस्था, वे वर्तमान के कुशल कलाकार हैं। युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा प्रणय सम्बधी समस्याओ के वे सफल और शक्तिशाली उद्‌भावक हैं। यथार्थवाद इनकी कला का आधारभूत सिद्धान्त है। व्यंग, उग्र जी के साहित्य का प्राण है। निराला जी के समान ही ये व्यक्ति, समाज और शासन पर व्यगो की अटूट वर्षा करते चलते हैं। उग्र जी की शैली सर्वथा मौलिक और मनमोहक है।

उग्र जी की सबसे बडी विशेषता है उनकी भाषा की शक्ति एव सजीवता। किसी विषय का प्रतिपादन करने की इनमे अद्‌भुत शक्ति है। ये, भाव-प्रवाह और व्यञ्जना-शैली की सहज मनोरजकता मे अकेले हैं। कथन की रमणीयता और दृश्य की रोचकता में उनकी समता कर सकने वाला कथाकार नही है। उग्र जी की भाषा कथासाहित्य के लिये आदर्श भाषा है। भाषा का सौन्दर्य देखिये—"वह इस तरह नाचती है जैसे भोरहरी की हवा मे अलसी का फूल। जैसे राजा रामरूप के ऐश बाग मे, उस बडे तालाब में, रिमझिम बरसते सावन मे छोटी-बडी लहरो पर हंसिनी नाचा करती है।

एक नमूना और—

"मेरी एक बीबी थी। गुलाब की तरह खूबसूरत, मोती की तरह आबदार, कोहनूर की तरह बेशकीमत, नेकी की तरह नेक, चाँद की तरह सादी, लडकपन की हँसी की तरह भोली और जान की तरह प्यारी।

मेरे एक बच्चा था। चाँदनी सा गोरा, नये चाँद सा प्यारा, युवती

के कपोलों सा कोमल, प्रेम सा सुन्दर, चुम्बन सा मधुर, आशा सा आकर्षक और प्रसन्न हँसी सा सुखद।

मेरी एक माँ थी। मसजिद की तरह बूढ़ी, आम की तरह पकी, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरान पाक की तरह पाक"।

यदि सच पूछा जाय तो उग्र जी की भाषा ही उनके साहित्य को सम्मान दिलाने के लिये परियाप्त है। वास्तव मे काव्य क्षेत्र मे जो स्थान भाषा परिष्करण के लिये पन्त जी का है वही स्थान गद्य क्षेत्र मे उग्र जी का है। भाषा की रवानगी में वे प्रेमचन्द से कम नही हैं।

——

भगवती प्रसाद वाजपेयी

वर्तमान कलाकारों मे भगवती प्रसाद जी वाजपेयी सब से अधिक विज्ञापित कथाकार हैं। उन्होने लिखा भी बहुत है। छायावादी भावप्रवणता उनके कथानको की मुख्य केन्द्र-पीठिका रहती है, स्वभावतः रोचकता का उनकी कहानियो में अभाव नही रहता। जीवन-सघर्ष से दूर भावुकता की कोमल क्रोड़ में उनके पात्र एक सहज दिव्यता का झीना आवरण डालकर पाठकों का मनोरंजन करने में समर्थ होते हैं। यदि कला को, कलाकार के भावो का इतर मानवों में सम्प्रेषण समझा जाय तो वाजपेयी जी की भावुकता से किसी को इन्कार नही हो सकता, उनकी अधिकॉश कहानियॉ इस बात की साक्षी हैं।

वास्तव मे कलाकार वही है जो अपने भावो को दूसरों के हृदय मे किसी न किसी प्रकार जाग्रत कर सके और कला, वह क्रिया है जिसके द्वारा कलाकार अपने अनुभूत भावों को इस प्रकार अभिव्यक्त करे कि पाठकों या श्रोताओं अथवा दर्शकों के हृदय मे वही भाव उसी आवेग से, उसी रूप मे उद्वेलित हो जॉय जिस रूप और आवेग से वे कलाकार के हृदय में स्थिति हैं। कला की इस सार्थकता का वाजपेयी जी स्पर्श नही चूकते किन्तु उनके वर्ण्य-विषय के औचित्य का मतभेद भी स्वाभाविक हो उठता है। कला भावों का सम्प्रेषण मात्र नही है, उसमे भावों का सयोजन भी अपना अलग महत्व रखता है।

नारी और पुरुष के यौवन-उष्णता के आवेग का आकुल आकर्षण वाजपेयी जी की प्रायः समस्त रचनाओं का आधार है किन्तु ऐसी समस्याओं के आधुनिक सस्तेपन से वाजपेयी जी मुक्त हैं। अपने विषय की सीमित किन्तु गहरी सूझ उनके कथानकों मे प्रायः पाई जाती है। "विकारहीन मुख पर ज्वलंत आभा झलकाते हुये प्रेमॉकुर बोला—

"नही तो करुणा, ऐसा भी क्या कभी हो सकता है। कभी नही, प्रेम कभी विकृत नही होता—वह सदा एक रस रहता है। लोग भले ही उसे समझने में भ्रान्त हो उठे"। प्रेम का यही स्वरूप वाजपेयी जी का साध्य है। उनके कथानको की यह प्रेम-पीडा अन्त मे विच्छेद की ज्वालामयी गोद मे भस्मीभूत हो जाती हैं। श्री नन्ददुलारे जी ने ठीक ही लिखा है—"दुःख और कष्ट सहन उनके मुख्य आकर्षण हैं, उनकी कथाओ मे इन्ही दोनो का प्रधान स्थान है। असाधारण की ओर प्रवृत्ति होने के कारण दुःख और कष्टसहिष्णु चरित्र भी वे उच्च और मध्यवर्गीय समाज मे से चुनते हैं। आर्थिक क्षेत्र मे जो दुखान्त नाटक सर्वहारा समाज द्वारा खेला जा रहा है, वाजपेयी जी ने अभी उसकी ओर ध्यान नही दिया"। इसका कारण भी स्पष्ट है।

वाजपेयी जी किसी विशेष सैद्धान्तिक भाव-धारा की प्रेरणा से साहित्य-सृजन नही करते। उनकी कला कृतियाँ किसी राजनीतिक अथवा आर्थिक उद्देश्य की पूर्णता का प्रयास करती नहीं जान पडती, वे केवल जीवन के स्निग्ध तथा सम्पन्न व्यवहार स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण की रगीन चित्रावलियाँ हैं। पक्षियो के कोमल कलरव की भाँति, बिना किसी विशेष भावाभिव्यक्ति और अभिप्राय के भी पाठको के सामने वाजपेयी जी के मोहक चित्र अपना अलग सौन्दर्य-सस्थापन करने मे सफल हैं, इसमे सन्देह नही।

सौन्दर्य, इन्द्रियो द्वारा अनुभूत एक परम तत्व है किन्तु इन्द्रियो के आगे आत्मा तक उसकी गति नही है। उसका उद्देश्य मनुष्य की इन्द्रियलालसा को उत्तेजित कर उसे शारीरिक आनन्द प्रदान करना है। यही कारण है कि सौन्दर्य बिना सत्य और शिव के सम्मेलन के केवल भौतिक और नितान्त स्थूल रह जाता है। वाजपेयी जी ने बुद्धि-ग्राह्य चरम तत्व, सत्य का अनुसन्धान करने की चेष्टा नही की वरन् उन्होने केवल सौन्दर्य की मोह-माया मे अपनी प्रतिभा को अन्तर्लीन कर दिया है। आभिजात्य

आधुनिक

वर्ग की सभ्यता तथा सस्कृत से प्रभावित कलाकार कभी जीवन और जगत् की वास्तविक स्थिति का अध्ययन भी नही कर पाता।

जब से हिन्दुस्तान मे अँग्रेजी पूँजीवाद की छत्र छाया मे भारतीय पूँजीवाद का जन्म हुआ तब से इस देश मे मध्य श्रेणी के लोगो की सख्या स्वभावतः बढने लगी। आर्थिक दृष्टि से यह वर्ग सब से अधिक पीडित है किन्तु इसका मानसिक धरातल उच्च श्रेणी की आकाँक्षाओं से आपूरित है। अधिकतर हमारे साहित्यक इसी मध्य श्रेणी के व्यक्ति हैं। स्वभावतः वे प्रायः सभी अपने से उच्च वर्ग मे जाने की कोशिश करते हैं और यदि आर्थिक दृष्टि से उसकी समता नहीं कर पाते तो मानसिक धरातल मे अपने को उससे किसी प्रकार कम भी नही समझते। उच्च श्रेणी के लोग अधिकतर परोपजीवी होते हैं, इसलिये अपने मनोरजन के लिये रोमान्स की ओर उनकी सहज प्रवृत्ति होती है। उन्हे सुविधा और अवकाश भी रहता है उन्ही की नकल साहित्यिक भी अपनी रोमान्टिक प्रवृत्ति से करता है।

वाजपेयी जी युवक-युवतियो के प्राकृत आकर्षण का स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण तो करते हैं किन्तु जिस समाज मे वे रहते हैं उसका आदर्श आज तक सामन्तशाही युग का ही है—वर्णव्यवस्था, जन्मजात अभिमान और सम्पन्नता, जातिव्यवस्था और दूसरे के शोषण की प्रवृत्ति तथा नारी के प्रति हीन भावना से उनका मानसिक धरातल उच्च श्रेणी की समता के कारण इन्हीं उपर्युक्त आभूषणों से आभूषित है। यदि वे कभी सामाजिक विषमताओ और आडम्बरो के प्रति विद्रोह भी करना चाहते हैं तो उसी क्षण उच्च वर्गीय दर्शन—भाग्य, स्वर्ग और ईश्वर उनके सामने आकर उन्हे आतकित कर देते हैं। अभिजात वर्ग की भावना उन्हे विद्रोह से सुधार की ओर मोड देती है।

वाजपेयी जी के औपन्यासिक चरित्र जीवन-सघर्ष की ओर बढते तो हैं किन्तु अन्त मे काम-विकार, नियति की निर्ममता तथा जीवन की

निराशा से पराजित होकर चीखने लगते हैं। प्रायः उनकी सभी चारित्रिक विशेषताएँ चरित्र के पुरुषार्थ को नही वरन् नियति को आत्मसमर्पण कर देती हैं—"अब मुझे याद आया, फूल ने एक दिन कहा था—अब मै तुम्हें छोडकर कहाँ जाऊँ। वैसे तो तुम कभी मुझे मिल न सकते, ऐसे ही मिल गये हो। आज बार-बार जी मे आता है, मैने जो उसे छोडने की चेष्टा की, तो उसी ने मुझे छोड दिया। विधि की यह कैसी विचित्र लीला है"। विधि की यह लीला और व्यक्ति का यह परिस्थिति-सन्तोष सामन्तशाही युग का दर्शनाभास है।

'प्रेम-पथ' 'लालिमा' और 'पिपासा' उपन्यासों मे रोमान्स के आकर्षण-विकर्षण का यही द्वन्द्व वाजपेयी जी ने चित्रित किया है प्रेम-पथ मे वासना के नानारूपो के विस्फोट और कर्तव्य से उसके संघर्ष का विशद चित्रण है। पिपासा मे नरेन्द्र और उसकी पत्नी शकुंतला तथा दोनो के मित्र कमलनयन की प्रेम-पीड़ा का बहुत ही सहानुभूतिमय निदर्शन हुआ है। सामाजिक बन्धन से, शकुतला नरेन्द्र के प्रति एक उत्तरदायित्व रखते हुये भी अपना नारी-हृदय कमलनयन को निछावर कर देती है किन्तु उसमे अपनी आकाक्षाओ की पूर्ति का साहस नही है, वह अपनी भावनाओ को सक्रिय रूप नही दे पाती और अन्त मे इस जटिल सघर्ष से बचने के लिये आत्म-हत्या की हीन-वृत्ति का सहारा लेती है। प्रेम की प्रीड़ा का यह अन्त अस्वाभाविक और अकल्याणकर है किन्तु शकुन्तला अपने रूढि-सस्कारो के पारलौकिक सुख लिप्सा से इस जघन्य कार्य-संपादन मे ही अपना कल्याण देखती है।

साहित्य मे ऐसे पात्रों की सृष्टि समाज मे निष्क्रियता को प्रश्रय देने वाली और थोथी भावुकता को उभाडने वाली होती है। वाजपेयी के पात्र जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियो मे, चाहे वे सामाजिक हो या आर्थिक अथवा दैविक कभी भी सफलता नही पाते क्योकि मानसिक-विलास की

आधुनिक

शिथिलता उन्हें संघर्ष नहीं करने देती स्वभावतः उनमें शक्ति नहीं समर्पण का आधिक्य रहता है। वे नियति के हाथो का खिलौना बनकर इधर-उधर लुढकते फिरते हैं।

समाज मे विरोध है, विषमता है, एक अनवरत सघर्ष चल रहा है किन्तु इसके निराकरण का साधन भाग्य और ईश्वर मे खोजना मानवीय सभ्यता और बुद्धि का उपहास करना है। आज के युग की पुकार जीवन से पलायन की नही सघर्ष द्वारा साम्य लाने की है। कला मे सौन्दर्य की भाँति जीवन मे साम्य अनिवार्य है अन्यथा जीवन, जीवन न होकर मरण का ही प्रतिरूप बना रहेगा। मरण की ममता और सघर्ष से उदासी को उभाड़ने वाला साहित्य सामाजिक और सामूहिक अहित का कारण होता है, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार के चित्रणों मे यदि कलाकार एक बौद्धिक निस्सगता का आधार ले सके तो उसका दोष बहुत कुछ क्षम्य माना जा सकता है किन्तु श्री नन्ददुलारे जी के शब्दों मे वाजपेयी जी का चित्रण-क्रम तटस्थता लिये हुये नहीं है और अक्सर यह आशंका उत्पन्न करता है कि रचनाकार की व्यक्तिगत सहानुभूति भी अस्तव्यस्त जीवन की अस्तव्यस्त प्रवृत्तियो के प्रति है। वास्तव मे जीवन की निराशामयी तथा भाग्य-संचालित स्थितियों के सृष्टिकर्ता साहित्यिक को स्वय निराशावादी होना पड़ता है, अन्यथा उन स्थितियो के प्रति उनकी भावुकता पूर्ण सहानुभूति का सचरण ही सम्भव न हो सके। अपनी कोमल प्रवृत्ति और भावुकता के बस होकर वे उन चित्रों मे जीवन का आदर्श देखने लगते हैं, किन्तु वे चित्र तो हैं अगति के आदर्श, उन्हे प्रगति का आदर्श कैसे बनाया जा सकता है। यहीं से कलाकार ह्रासोन्मुख जीवन का चित्रण छोडकर ह्रासोन्मुख कला की सृष्टि करने लगता है। वह समय के प्रवाह मे बह चलता है और अपना असली उद्देश्य छोड बैठता है। तब तो वह विवेक को त्यागकर लिप्सा और खुमारी का शिकार हो जाता है और अगति

में होकर प्रगति की कल्पना करने लगता है। वाजपेयी जी ने भी अपनी कृतियो में यही किया है।

'पतिता की साधना' मे नन्दा और हरी अपने मन की सतोष-साधना में अटल रह कर एक दूसरे को प्राप्त कर लेते हैं। विधवा नन्दा की जीवन की वास्तविक स्थितियो पर साधना का काल्पनिक आवरण डालकर उसे जीवन की तृप्ति पर पहुँचा देना वाजपेयी जी की ही कला का रहस्य है।

'दो बहने' उपन्यास मे लता और आशा दोनो बहने ज्ञानप्रकाश को प्रेम करती हैं (बहुधा वाजपेयी जी की नायिकाये प्रेम-प्रदर्शन मे पुरुष को मात करने वाली और स्वय आगे बढने वाली होती हैं) प्रेम के स्फूर्तिमय आवेगो और मानसिक विपन्नता जन्य असफलता की आँधियों का इसमे सजीव चित्रण है। दो बहनो के एक ही प्रेमपात्र होने के कारण उनके हृदय मे उत्पन्न प्रतिस्पर्द्धा, द्वेष और व्यावहारिक घात-प्रतिघात का निर्वाह निपुणता से किया गया है। मानसिक स्थूल द्वन्द्व का सफल चित्रण हुआ है और इस दृष्टिकोण से यह उपन्यास वाजपेयी जी की सब से सफल रचना है। पुस्तक समाप्त करने के पश्चात् 'प्रेसीडेन्ट' नामक फिल्म देखने वाले पाठको को उपन्यास के कथानक मे उस चित्रपट के कथानक का आभास मिले बिना नही रह सकता। मेरा स्वयं भी यही अनुभव है।

वाजपेयी जी का नवीनतम उपन्यास 'निमत्रण' है इसमे उन्होंने कुछ सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो के विवेचन की चेष्टा की है। आज के युग के सामने दो समस्याये उपस्थित हैं। एक कलाकार को प्राचीन रूढियो के द्वारा विशेषाधिकार प्राप्त विश्वासो के प्रति आस्था और आशङ्का का भाव जगाती है तो दूसरी उसे सामूहिक मानवता के कल्याण के लिये निर्मित नवीन सामाजिक विश्वासो के प्रति आकर्षण

आधुनिक

तथा प्रलोभन देती है। सचेष्ट तथा सजग कलाकार इन समस्याओं को जीवन-अनुभवों के द्वारा ग्रहण करता हुआ आगे बढता है किन्तु ऐसा करने के पहले उसे अपने जन्मजात सास्कृतिक तथा सामाजिक संस्कारों से विकट संघर्ष करना पडता है।

'निमंत्रण' मे कलाकार के इसी संघर्ष का दर्शन सामने आता है। पृथ्वी, मनुष्य और समाज के सम्बन्ध मे बदली हुई धारणाये यदि साहित्य मे भी प्रतिष्ठित हों तो यह आश्चर्य की बात नही क्योंकि साहित्य का पोषण तथा वर्द्धन सदैव समाज से ही प्राप्त रस द्वारा होता है। इस पृथ्वी पर पले और बढ़े कलाकार की कलाकृति किसी अपार्थिव माप से नही जॉची जा सकती उसे इसी सामान्य मानवीय धरातल की कसौटी पर अपनी सचाई की परीक्षा देनी होगी तभी साहित्य युग, जीवन, समाज और जगत् की वास्तविक परिस्थिति से अपनी सापेक्षता सिद्ध कर सकेगा, अन्यथा नहीं। युग-जागरण की इस चेतना को वाजपेयी जी ने हृदयगम करने का प्रयास तो अवश्य किया है किन्तु अभी वे अपने मध्यकालीन आदर्शों तथा सस्कारों से मुक्ति नही पा सके, उनका 'निमंत्रण' पुकार कर यह कहता सा जान पड़ता है।

अनेकबार ऐसा होता है कि कलाकार अपने व्यक्तिगत जीवन के किसी मार्मिक स्थल की प्रतिक्रिया को अपने साहित्य से अलग नही रख पाता। उसके जीवन की पार्थिव अतृप्ति उसके कला का एक अंग बन जाती है, जो उसकी प्रत्येक कृति में पानी मे डूबते हुये घड़े की भॉति बिलबिला उठती है। स्त्री-पुरुष का वासना जन्य आकर्षण वाजपेयी जी की कला का केन्द्र-बिन्दु सा बन गया है। उनकी प्रत्येक रचना मे एक नवयौवना अपने उशृखल रूप-व्यापार का प्रदर्शन करती सी दिखाई पड़ती है और उसे प्रायः अपने समर्पण में सफलता नहीं मिलती। उसके इस क्षोभ का वातावरण सारे कथानक को छा लेता है।

'निमंत्रण' भी इसका अपवाद नही। यहाँ भी मालती के दर्शन हमें उसी रूप में होते हैं। "यह जार्जेट की साड़ी, रग हलका आसमानी, जिसमें उडते हुये बादलों का आभास। यह किनारे पर सफेद चमकीला गोटा, जिससे पता चले कि कभी कभी विजली भी चमक उठती है। यह ब्लाउज, जिसकी भूमि नारंगी, लेकिन छाप जिसमे अगूर के बैजनी गुच्छो और उनके हरी-हरी पत्तियो की। ये गोरी माँसल अनावृत बाहें और स्कन्धमूल से उँचाई का पथ-निर्देश करने वाले बक्ष-कन्दुक। ये नोकदार नयन, जिनमें आकर्षण का मद और निमत्रण। यह शृखलित, नीचे की ओर पतली पडती हुई बेणी, गुम्फित, काली रेशमी चोटी को नितम्ब-प्रान्त के ओर नीचे तक लहराती हुई"।

इसप्रकार की युवती थोड़ा बहुत वेश भूषा परिवर्तन के साथ उनकी प्रत्येक कृति का शृगार करती है। उसके हाव-भाव और उत्तेजना मे कहीं कोई अन्तर नही आता। समर्पण की साध भी उसकी सनातन रहती है। मालती शर्मा जी से कहती है—"ऐसी बात हो तो मै जीवन भर के लिये निमंत्रण देती हूँ। आपको कही जाने की आवश्यकता नहीं होगी"। अन्य अनेक बाते वह ऐसी करती है जो स्त्री की सहज स्वाभाविक शालीनता के नितान्त प्रतिकूल पडती हैं। विनायक से कहे गये मालती के यह शब्द कि आप सेक्स की दृष्टि से सबनार्मल हैं, ऐसे लगते हैं जैसे कथाकार ने उससे गला घोटकर जबरन कहलाया है। इसमे सन्देह नही कि बीच-बीच मे वाजपेयी जी ने समाज और अर्थनीति की अनीति की भी चर्चा चलाई है किन्तु उससे पाठक किसी निश्चित ध्येय पर नही पहुँच सकता, क्योकि उनकी विशेषता एकान्त स्वगतोक्तियो से अधिक नही है। उनका अर्थ समझने मे असमर्थ पाठक झुँझला कर रह जाता है।

रोमान्स, लिप्सा और उत्तेजना पूर्ण आत्महत्या के प्रयत्नों के बीच

आधुनिक

उनके सामाजिक विद्रोह की भावना अनन्त जलधारा के की भाँति खो जाती है।

वाजपेयी जी ने भूमिका मे लिखा है कि अपने इस दसवे उपन्यास मे मैने जो कुछ लिखा है वह 'सब सच्चा और यथार्थ है। पर मै तो निस्सकोच यह कह सकता हूँ कि वे दसवे उपन्यास मे जितने अस्वाभाविक हैं उतने किसी अन्य मे नही। इसका प्रत्येक चैप्टर अपने मे फुर्र है। कथानक मे इतनी असम्वद्धता है कि दूरूहता की भी सीमा के परे पहुँच जाता है। पात्रो तथा घटनाओं की इतनी बहुलता है कि किसी भी पात्र के व्यक्तित्व का विकास नही हो पाता, पाठक पात्रो से अपरिचित सा रह जाता है। उसके मानस-नेत्रो के सामने केवल मिस मालती की लीला-रासमयी क्रीडा ही प्रत्यक्ष रूप से नाचती रहती है।

वाजपेयी जी के उन्पयासो का सम्बन्ध समाज के केवल उसी स्वरूप से है जिसके अनुसार वह नारी को केवल काम-क्रीडा-केलि की पुतली समझता रहा है। वासना की शारीरिक अतृप्ति से जो पीड़ा मानव मात्र मे होती है उसी का स्पष्ट स्वर हमे उनकी कृतियो मे सुनाई पडता है। यद्यपि मानवता के चीत्कार के रूप मे वे कृतियो के मुख्य पृष्ठ पर विज्ञापित हैं। राजनीतिक दासता और आर्थिक शोषण की व्यवस्था से उत्पन्न पीडा की तरफ उन्होने कतई ध्यान नही दिया। 'निमत्रण' के सामाजिक विद्रोह किसी स्नायुक व्याधि से पीडित व्यक्ति के अवचेतन उद्‌गारो की भाँति विशृखलित और अव्यवस्थित हैं। उनमे हम कभी गोर्की, कभी फ्रायड और कभी रोमारोला की बात का का प्रतिपादन पाते हुये कि कर्तव्य विमूढ की स्थिति में रमे रहते हैं। लेखक का उद्देश्य हमारे सामने कभी स्पष्ट नही हो पाता, 'निमत्रण' को उपन्यास न कह कर 'बुक आफ कोटेशन' कहने की इच्छा होती है।

[illegible] जब अपनी अनुभूत और मननशील धारणाओं को छोडकर विश्व के सारे ज्ञान को अपने में समेट लेना चाहता है तब उसकी यही दशा होती है। सम्भवतः इसीलिये कहा गया है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पॅर धर्मो भयावह। यदि वाजपेयी जी अपनी खुमारी की रोमान्टिक नींद् के स्वप्न को छोड़कर सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की यथार्थ परिस्थितियो के विवेचन और उसके जागरणमय नव-निर्माण मे सहयोग दे तो उनकी कला की सार्थकता चरितार्थ होने में कोई सन्देह न रह जाय क्योकि प्रतिभा और स्फूर्ति की उनमें कमी नही है। कलाकार की सफलता का रहस्य बुद्धि की विशिष्ठता के साथ युग-जागरण मे सहायता पहुॅचाने के अतिरिक्त और कुछ नही है। वाजपेयी जी से हमे, भविष्य मे ऐसी ही कला-सृष्टि की आशा है।

भगवती चरण वर्मा

भगवती चरण जी वर्मा ने कविता, एकॉकी नाटक, कहानी, तथा उपन्यास सभी लिखा है। पत्र का सम्पादन भी वे कर चुके हैं। आजकल साहित्य का यह क्षेत्र छोडकर सिनेमा ससार की शोभा बढा रहे हैं। साहित्य के प्रायः प्रत्येक प्रकार मे काम करने वाले कलाकार दो श्रेणी मे विभाजित किये जा सकते हैं। पहले तो वे हैं जिन्हे वास्तव मे ऐसी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा मिली है कि वे साहित्य के हर अग और अश को अपनाकर उसमे सफलता पूर्वक अपनी शक्ति का सचरण करते हैं। हमारे आधुनिक साहित्य मे प्रसाद ऐसे ही कलाकार हैं। दूसरे वे होते हैं जो अपनी मानसिक अव्यवस्था के कारण साहित्य के भिन्न स्वरूपो मे अपनी कार्य-कुशलता का परीक्षण और प्रयोग करते रहते हैं। इन प्रयोगात्मक रचनाकारो के पास न तो कोई एक निश्चित सिद्धान्त रहता और न कोई अनुभूत उद्देश्य। कहना न होगा कि वर्मा जी इसी दूसरी श्रेणी के कलाकार हैं।

किसी भी व्यवस्थित साहित्य-सृजन या कार्य-संपादन मे प्रतिभा के साथ-साथ व्यक्ति के आत्म-विश्वास और कर्मठता का भी विशेष हाथ रहता है किन्तु वर्मा जी व्यक्ति को परिस्थितियो का दास समझते हैं। अतएव परिस्थितियों से ऊपर उठने के लिये वे संघर्ष करना उचित नहीं समझते और उनके साथ समझौता करते हुये तीव्र धारा मे प्रवाहित पुष्प की भॉति इधर उधर भटकते फिरते हैं। उनके लिये, इसीकारण जीवन में 'अविकल उत्पीडन विकास है और शान्ति है ह्रास' का ही सन्देश सुनाई पडता है। ऐसे विश्व में वे 'मस्ती का आलम साथ लेकर धूल उड़ाते हुये चल रहे हैं। यही उनका जीवन-

कथासाहित्य

दर्शन है और इस दर्शन तथा विश्वास के साथ कलाकार के सामने 'स्वय खिलौना बनो, खेल मे अपने को खोकर खेलो' का एक मात्र साधन शेष रह जाता है।

मनुष्य के हृदय मे बाह्य जगत् की सवेदनाओ के कारण जो विकार उठते हैं, वे मिलकर मनुष्य के भाव की सज्ञा प्राप्त करते हैं। मूल रूप से भाव दो ही होते है, सुख और दुख। मनुष्य अपनी वैयक्तिक चेतना के स्पंदन में या तो सुख का या दुख का अनुभव करता है किन्तु सामूहिक चेतना की स्थिति मे वह दोनो का अनुभव कर पाता है क्योकि सम्पूर्ण जीवन और जगत् मे इन दोनों भावो का विकास-क्रम बराबर चलता रहता है। वास्तव मे इस सारे विश्व का सचालन कभी एक भाव से हो भी नही सकता है, इसके लिये सुख-दुख का सामञ्जस्य आवश्यक है। विश्वव्यापी यह दोनो भाव व्यक्ति की एकान्त सीमा मे पहुँच कर राग और द्वेष का रूप धारण कर लेते हैं।

कहा भी गया है कि 'सुखाद् रागः' और 'दुखाद् द्वेषः'। आत्मा की वृद्धि, विस्तार और व्यापकता का भाव राग की उत्पत्ति करता है और उसके ह्रास, संकोच और अल्पता की चेतना व्यक्ति मे द्वेष की उद्भावना करती है। जब कलाकार अपनी पार्थिव और व्यक्तिगत अतृप्ति की पीड़ा का अनुभव अपनी कला के माध्यम से ससार को देना चाहता है तब उसकी कला मे शेष सारे ससार के प्रति एक क्षोभ और द्वेष का भाव अनिवार्य हो उठता है क्योकि वह संसार को अपनी इस पीडा का कारण मानने लगता है। जीवन-सघर्ष और उसकी विषम परिस्थितियो के आघात को न सह सकने के कारण वह विचलित होकर ससार के प्रति एक असफलता जनित उपेक्षा का भाव दिखाने लगता है। आवेश और आक्रोश की आकुलता मे यह उपेक्षा कभी कभी एक प्रकार के अशक्त विद्रोह का जामा भी पहन लेती है।

आधुनिक

वर्मा जी का जीवन और जगत् के प्रति ऐसा ही विद्रोह उनकी कृतियो मे कभी-कभी व्यक्त हुआ है। उनका यह विद्रोह नियति की निमर्मता और निराशा की निरीहता का प्रतिफल है नकि किसी विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित सामूहिक जागरण का निर्भीक स्वर। उन्होने साफ-साफ लिख दिया है कि—

मै देख रहा यह मानवता
कितनी निर्बल कितनी अनित्य।

आधुनिक जीवन की विभीषिकाओ से सतप्त और व्यक्तिगत सुख-साधना से अतृप्त व्यक्ति ससार की वास्तविकता से विमुख होकर या तो पुरातनता का पल्ला पकडता है या आगत भविष्य की कलित-कल्पना मे अपना विश्राम-स्थल खोज निकालता है। कलाकार की रोमान्स-प्रियता भी उसे वर्तमान की उपेक्षा का पाठ पढाती है, इसमे सन्देह नहीं। वर्मा जी ने 'चित्र लेखा' मे पाप-पुण्य के विवेचन के सहारे दूर अतीत को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा की है और 'तीन वर्ष' मे उन्होने अति आधुनिकता (निकट भविष्य) का आश्रय ग्रहण किया है।

'चित्र लेखा' मे चन्द्रगुप्त मौर्य का समय हमारे सामने उपस्थित होता है, एक ओर पाटलिपुत्र का विशाल वैभव और दूसरी ओर आश्रम-जीवन का कार्य-क्रम, उसका अध्ययन और दर्शन। कथानक में फ्रास के प्रसिद्ध कलाकार अनातोले के उपन्यास 'थायस' की कुछ प्रछन्न छाया दिखलाई पड़ती है, किन्तु मूल आधार इस उपन्यास का भारतीय उपनिषदो से निर्मित है। इस उपन्यास की विवेचना के पहले यह कह देना आवश्यक है कि कलाकार के जीवन का सब से बडा सत्य उसका वर्तमान युग होता है। इसकारण विकासशील साहित्य का चित्र पट सामयिकता को भुलाकर किसी अन्य युग के सहारे निर्मित नहीं किया जा सकता। जीवन की परिस्थिति और वातावरण के अनुसार

कलाकार के भीतर भावों का स्फुरण होता है, उसके साहित्य मे इन्हीं भावों की उद्भावना कलात्म सचाई की परख होती है।

साहित्य मे अतीत की विस्मृत घटनाये तथा विचार धाराये कभी अपने बल पर जीवित नही रहती, अमरता का वरदान उन्हे कलाकार अपनी युग-भावना में प्रतिष्ठित करके देता है। ऐतिहासिक यक्ष की सत्यता सन्देह जनक है किन्तु कालिदास का यक्ष अमर और नित-नव नवीन है। सामयिक जीवन की दूरी और समकालीन पाप-पुण्य की भावधारा की अवहेलना के कारण 'चित्रलेखा' की विशिष्टता कुछ शिथिल पड़ गई है। वह आज के जन-जीवन का अग नहीं बन सका, उसकी समस्याओ का कोई सुझाव नही दे सका और न किसी सामाजिक लक्ष्य की पूर्ति ही कर सका। वर्तमान सामूहिक व्यवस्था के निर्माण मे उसकी कोई देन नही है। यह भी कहना अनुचित है कि पाप की समस्या पर उपन्यास ने पूर्ण प्रकाश डाला है।

वर्मा जी के अनुसार पाप-पुण्य का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर न होकर परिस्थितियो पर रहता है, इसीलिये उनकी राय मे जिसे समाज पापी समझता है वह योगी से बढ़ कर होता है। समाज के सुघर नव-निर्माण की आवाज कलाकार उठा सकता है किन्तु अपनी व्यक्तिगत रुचियों के प्रतिकूल होने के कारण उसकी उपेक्षा नही कर सकता क्योंकि असमाजिकता कला का कलक है। 'चित्रलेखा' का न बीजगुप्त पापी है न कुमारगिरि यहाँ तक कि श्वेंताक भी पापी न होकर एक दुर्बल मानव है। महाप्रभु रत्नाम्बर की पाप की व्याख्या स्वयं लेखक की तत् सम्बन्धी भावनाओ के प्रकाशन मे सहायक सिद्ध होगी। "ससार मे पाप कुछ भी नही है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नही है, परिस्थितियो का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं, वह

आधुनिक

केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा" ? पाप-पुण्य की यह व्याख्या एक निक्रिष्यता को प्रश्रय देने के अलावा दूसरा कोई महत्व नही रखती।

'चित्रलेखा' का चरित्र बहुत ही उलझा हुआ अस्पष्ट है। बीजगुप्त और कुमारगिरि दोनों को वह प्यार करती है किन्तु अपने प्यार के अपेक्षाकृत निकट आधार का निर्णय नही कर पाती, यह उसकी मानसिक तथा चारित्रिक उलझन का एक उदाहरण मात्र है। 'चित्रलेखा' के प्रायः सभी पात्र वर्मा जी की भावनाओ के विवश वाहन हैं, उनका अपना स्वतत्र कोई विकास नही है। वे कलाकार की सृष्टि न होकर उसकी दृष्टि का अनुसरण करते से जान पडते हैं। जीवन की कठिन कर्मभूमि मे वे सजीव पात्र न होकर कठपुतली की भाँति शासित और सचालित होते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास का कोई पात्र न तो कलाकार के समय की सामाजिक अवस्था का रहस्योद्‌घाटन करता न अपने उस युग का प्रतिनिधित्व। वस्तुतः पाठक के लिये उनका कोई महत्व नही रह जाता।

उपन्यास मे पात्रो को कलाकार की अभिव्यक्ति का साधन वहीं तक बनाया जा सकता है जहाँ तक कलाकार अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त करते हुये उनसे ऐसी बाते कहलाता है, उनसे ऐसे कार्य कराता है, जो सामान्य मानवीय अनुभूतियो की सीमा में सहज ही अपनी स्वीकृत पा सके, अन्यथा व्यक्तिवाद के दुरुपयोग के साधन बनकर वे अपना व्यक्तित्व सर्वथा खो बैठते हैं। कहना न होगा कि 'चित्रलेखा' के सभी पात्र ऐसे ही हैं। साहित्यिक सत्य की स्वीकृति इतिहास तथा कलाकार के व्यक्तिगत विचारो से उतना सम्बन्ध नही रखती जितना समाज की सामूहिक सम्भावना वृत्ति के सतोष से। यदि समाज को उससे इस प्रकार का संतोष नही मिलता तो वह साहित्य निष्फल और

निष्प्राण है। इस उपन्यास के कथानक का गम्भीर वातावरण, भाषा की सौम्यता और प्रवाह अवश्य ही प्रशंसनीय है।

'तीन वर्ष' वर्माजी का, अब तक आखिरी उपन्यास है। इसमें 'चित्रलेखा' की निष्ठा और गंभीरता एकदम गायब है। चित्रपट मे उपयोग होने के पहले 'चित्र लेखा' की काफी चर्चा नही हुई थी जिसकी प्रतिक्रिया 'तीनवर्ष' की भूमिका मे व्यक्त हो उठी है। बड़े आत्मविश्वास के साथ लेखक ने अपने उपन्यास की तुलना ससार के अन्य श्रेष्ठ उपन्यासो से करने की बात पर जोर दिया है, सम्भवतः इसकी श्रेष्ठता पर उसको पूर्ण विश्वास है। जो वह नही है वही बनने या समझे जाने की भावना मानवीय दुर्बलता का एक करुण पहलू है, ऐसा न होने से व्यक्ति आत्म-प्रशसी बन जाता है। सामाजिक सम्मान की तृप्ति न पाकर वह अपने ही मुख से अपनी प्रशसा करने को बाध्य होता है।

कलाकार के जीवन मे अहकार की अभिव्यक्ति की यह पहली सीढी है, इसके फल स्वरूप आत्मश्लाघा के गह्वर मे तर्क और विवेक का विलीन हो जाना बहुत स्वाभाविक और सहज हो जाता है। इसमे सन्देह नही कि जीवन की विकास-शीलता मे आत्म-विश्वास का बहुत महत्व है किन्तु कृतत्व के अभाव मे केवल भाव का वही मूल्य होता है जो उद्यान मे निरगध रगीन कुसुम का। भाव की मानसिक स्थिति और उसकी सक्रिय अभिव्यक्ति मे बडा अन्तर होता है, इसे सदैव स्मरण रखना होगा। भाव की प्रेरणा के अनुसार कार्य न करने से हृदय उस वृति को छोड़ देता है और उस भाव के लिये सदा को जड़ बन जाता है। वर्माजी की अपने उपन्यास के विषय मे कही गई लम्बी चौड़ी बातो का इससे अधिक कुछ महत्व नही क्योकि उपन्यास के निर्वाह मे वे वैसी सफलता नही पा सके जिसका विश्वास उन्होने भूमिका के द्वारा दिलाने की चेष्टा की है।

इस उपन्यास मे यूनीवरसिटी जीवन तथा होटल और रेस्टारॉ वाले कृत्रिम, मिथ्या या अर्द्ध सत्य जीवन की रसमय झाँकी है। पाठक, इसके कथानक मे आनेवाले घूरे और जगाती को छोडकर अन्य सभी पात्रो के प्रति शकाशील हो उठता है। वेश्यालय और मैखाना वाला प्रसग कोढ में खाज का काम करता है। बीच-बीच मे आये हुये अर्थ-शून्य दार्शनिक प्रसग टाट के गद्दे मे मखमली ठेगरी की भाति अशोभन लगते हैं। रमेश एक आदर्शवादी पुस्तको का कीडा बुद्धू विद्यार्थी है। उसका परिचय राजकुमार अजित से होता है, जो जीवन की वास्तविकता को अपने वर्ग के अनुकूल उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। अजित के भीतर का दार्शनिक जीवन के प्रति सजग और चितनशील है। कहानी समाप्त होते होते वह रमेश का भाग्य निर्माता सा बन जाता है और साधु एव सुधारक बनने की आकस्मिक प्रवृति का प्रदर्शन करता है।

परोपकार की यह अचानक क्षमता पाठको के विश्वास को अस्थिर कर देती है क्योकि जीवन की विशेष अवस्था तक पोषित सस्कार और स्वभाव मे इतना शीघ्र परिवर्तन होना सहज और स्वाभाविक नही होता। उधर रमेश का बड़ी आसानी और सहज-भाव से नवीन वातावरण एव सामाजिक विपन्नता के प्रति अभ्यस्त हो जाना भी आश्चर्य उत्पन्न किये बिना नही रहता। लज्जाशील, अध्ययनशील आदर्शवादी रमेश एकदम दानव बन बैठता है। मद्यपान मे कोई उसकी समता नही रखता, रोमान्स मे भी उसकी रौनक बहुत बढी-चढी है। प्रभा से उसका प्रेम होता है किन्तु वह उससे विवाह नही करती क्योकि उसके पास भोग-विलास के साधन, धन का अभाव है। इसके बाद रमेश का प्यार एक सरोज नामक वेश्या से होता है जो रमेश के लिये अपना तन, मन तथा धन सब अर्पण कर देती है फिर भी रमेश को शान्ति नहीं मिलती।

सरोज के प्रति कलाकार की पूरी सहानुभूति है, उसने उसे संसार तथा समाज की कलुष-कालिमा के कलक के साथ भी देवी के रूप में चित्रित किया है, चाहे तो इसे समाज की मान्यताओ के प्रति कलाकार की उपेक्षा या विद्रोह-भावना भी कह सकते हैं। इस उपन्यास की रचना और सगठन मे कलात्मक कौशल की कमी नही किन्तु इसके पात्र, स्थितियॉ तथा भावनाये नितान्त अस्वाभाविक और असत्य हैं। इसमे लेखक ने अति यथार्थ का सहारा लिया है किन्तु इसका कथानक भारतीय जीवन तथा समाज का बहुत ही सीमित अंश है, इसकी चरितार्थता निकट भविष्य की सम्भावना हो सकती है। पात्रो की ऐसी हीन भावनाये अभी भारत मे सामाजिक रूप से प्रसरित नहीं, वे केवल लेखक की उत्तेजनापूर्ण मानसिक चित्रावलियॉ हैं।

विलास की यह विडम्बना, ह्वाइट हार्स की यह आकुलता, यौवन तथा रूप के बाजार की यह नुमायश भारतीय जीवन का सामूहिक स्वरूप नही, कुछ व्यक्तियो का व्यक्तिगत-विधान मात्र है। यह बात माननी पड़ेगी कि व्यक्तियो से ही समाज बनता है किन्तु गॉव का एक काना सारे गॉव के काने होने का सबूत नही हो सकता। यही कारण है कि स्वय कलाकार ने इन चित्रो को बड़े ही निराश-भाव से चित्रित किया है।

'तीन वर्ष' का सारा वातावरण विलास की विकृत छाया से आच्छादित है किन्तु इसका आरम्भ और विकास बडे आकर्षक ढंग से हुआ है, यह मानना पड़ेगा। 'तीन वर्ष की दुनिया ऐसे अमीरों तथा धनिको की दुनिया है जो भूखी-प्यासी भारतीय जनता से शोषण के सिवाय और कोई सम्बन्ध नही रखती, ऐसे वर्ग का चित्रण और पीड़ित जनता की अवहेलना कला का साध्य नहीं हो सकता क्योकि ऐसे पात्र जो अपनी अतृप्ति की ज्वाला मे स्वय भस्म हो जाते है पाठको को

जीवन और जगत् के प्रति किसी कल्याणकारी धारणा की प्रेरणा देने में कदापि समर्थ नहीं हो सकते हैं।

मनोहर कथोपकथन और वासना-जन्य रगीन चेष्टाओ से जनता का हित नही हो सकता और साहित्य का जन-हिताय होना सर्वमान्य सिद्धान्त है। अभिजात वर्ग के दर्शन तथा उसके रास-रग के प्रदर्शन के द्वारा सामान्य जनता को भ्रम मे डालना एक साहित्यिक प्रवञ्चना है। वर्मा जी ऐसे विधायक प्रतिभा के कलाकारों को अधिक उच्च उद्देशो की अवतारणा पर आरूढ़ होना चाहिये क्योकि सामाजिक सत्य की उद्भावना ही कला की सार्थकता और सफलता है। निर्माण की गतिविधि मे किसी सामूहिक लक्ष्य के बिना व्यक्तिगत प्रयास अराजकता के आकुल उद्गारों से अधिक महत्व नही रखते, यह निश्चित है।

सियारामशरण

संतुलन का अभाव आधुनिक साहित्य का सबसे बडा अभिशाप है। आज का साहित्यिक या तो इस पार ठहर सकता है या उस पार, दोनो के समन्वय की साधना उसमे नही है। यही कारण है कि कुछ कलाकार आदर्श की अलौकिक तन्मयता मे अपने आस-पास की वास्तविक स्थिति का अध्ययन नही करते और कुछ यथार्थ की आकुलता मे पैरो के नीचे की धरती को छोड़कर आकाश की ओर अपनी दृष्टि तक नही डालना चाहते। ये दोनो स्थितियाँ साहित्य के लिये अहितकर हैं क्योंकि साहित्य एक सृजन है ध्वस नही और सृजन मे आवेग की तीव्रता की अपेक्षा समन्वयात्मक संयम की अधिक आवश्यकता रहती है।

कथाकारो मे गुप्त जी ने सामञ्जस्य की साधना का सहारा लिया है। उनके उपन्यासो मे जीवन की दोहरी प्रेरणा का प्राण प्रवेग प्रवाहित होता मिलता है। एक वह जो मनुष्य की विश्वासात्मक शक्ति संचय के द्वारा जीवन की विषमता मे भी एक व्यापक समता को खोज निकालती है और दूसरी वह जो यथार्थ की प्रतिष्ठा के साथ प्रयोग की नवीन सामूहिक शक्तियो का सचय करके कर्म को साकारता देती है। इन्ही दोनो प्रवृत्तियो के सहज सम्मेलन मे उनके कथानकों का विकास होता है।

इसे हम यथार्थानुगत आदश भी कह सकते हैं। उन्होने केवल यथार्थ की विषमता का चित्रण न करके सामञ्जस्य की भावना को मुखर किया है। गुप्त जी के उपन्यासो का यही केन्द्र-विन्दु है। आधुनिकता के आग्रह के अनुसार उन्होंने कभी भावनाओ को बुद्धि के

आधुनिक

कठोर धरातल पर नही तौला क्योकि अनुभूति अपनी सत्ता मे जितनी सबल होती है उतनी बुद्धि नही हो सकती। व्यक्ति के स्वयं एक काँटा चुभने की पीड़ा की क्षणिक अनुभूति दूसरे के भाला लगने के ज्ञान से अधिक स्थायी और बोधगम्य होती है। कला में सत्य की स्थापना जीवन की अनुभूतात्मक अभिव्यक्ति से होती है, बुद्धि के बाह्य ज्ञान से नही। गुप्त जी ने कला की इसी गतिशील साधना का सगठन किया है।

उनके तीन उपन्यास, 'गोद', 'अन्तिम आकाँक्षा' और 'नारी' निकल चुके हैं। इनके कथानकों का विस्तार गाँवो की सीमा मे ही अपना विकास पाता है, नगर-जीवन से उनका कोई सम्बन्ध नही है। वृन्दावन, जमुना का पति नागरिक जीवन की विपन्नता का प्रतीक माना जा सकता है, शेष सभी पात्र ग्रामीण और स्वभावतः भारतीय सस्कृति के सहज उपासक हैं। इस प्रकार गुप्त जी के तीनो उपन्यासों मे उनके आस्थामय जीवन और सरल व्यक्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। उनके सभी पात्र अपनी सादगी और निश्छलता से जीवन्त हैं।

'गोद' का नायक शोभाराम अपने बडे भाई को पिता तुल्य मानकर अपनी भावज की गोद भर देता है। उसकी सगाई विधवा कौशल्या की लड़की किशोरी से हो जाती है। प्रयाग के मेले मे, भीड के बीच वह अपनी माँ से छूट जाती है और सुब्रह सेवासमिति के लोग उसे माँ के पास पहुँचा देते हैं। रातभर माँ से दूर रहने की दुर्घटना के कारण उसका चरित्र समाज की दृष्टि से सन्देहजनक समझा जाता है। गुप्त जी ने बडे कौशल के साथ यह दिखलाने की चेष्टा की है कि हिन्दू-समाज किस प्रकार प्रत्यक्ष पाप और सन्देह-जनित पाप मे कुछ भेद नही मानता। न्याय की तुला पर भी सन्देह का लाभ अभियोगी को होता है किन्तु समाज के पास सन्देह से बढकर किसी को अपराधी ठहराने का दूसरा प्रमाण नही माना जाता।

लोकापवाद और धनलोलुपता के कारण दयाराम एक जमीदार के यहाँ दूसरी सगाई मजूर कर लेता है किन्तु उसकी पत्नी पार्वती सहज ही स्नेहशीला और सहानुभूतिमय होने के कारण उससे बराबर असहमत रहती है, यद्यपि सामाजिक विधान के अनुसार वह पति का सक्रिय विरोध नही कर पाती। उधर किशोरी की भी दूसरी जगह सगाई तय हो जाती है किन्तु इस दूसरे वर की कुरूपता और दयाराम के विश्वासघात के कारण कौशल्या को बहुत बडा आघात लगता है और वह बीमार पड़ जाती है। दयाराम ने इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु शोभाराम का हृदय करुणा से भर जाता है और वह चुपचाप किशोरी से ब्याह कर लेता है।

कुछ दिन इधर-उधर भटकने के पश्चात् उसे भाई से क्षमा मिल जाती है। मातृ-प्रेम और करुणा के पुरस्कार का परिचय इस उपन्यास के द्वारा पाठको को दिया गया है। इसका कथानक जितना ही सरल है उतना ही मार्मिक। दयाराम, पार्वती और शोभाराम के चरित्रो का विकास सर्वांग और सहज है। गुप्त जी का उद्देश्य समाज की उस धूर्त-नीति का उद्घाटन है जो अपनी अनर्गल शका से एक कन्या के जीवन का विनास करने मे अपने को क्षम्य समझती है।

'अन्तिम आकाक्षा' मे एक नौकर को नायक बनाकर गुप्त जी ने एक उपेक्षित वर्ग के प्रति बहुत ही उदार भावना का प्रदर्शन किया है। नायकत्व की परम्परागत रूढि के विरुद्ध यह उनका विद्रोह उनकी अति आधुनिक चेतना का उदाहरण है। इस उपन्यास मे नौकर रामलाल का व्यक्तित्व बहुत ही उभरा हुआ और सजीव है। कथानक में शृगार का एकान्त अभाव और करुणा तथा भावुकता की चरम अभिव्यञ्जना है। अपमानित और पदच्युत रामलाल जाते समय अपने मालिक की लडकी को जो विवाह के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित खड़ी है दो रुपये भेट करता है। उस समय का सारा वातावरण गुप्त जी

आधुनिक

ने कण्व-आश्रम की सी महान् करुणा और ममता की आद्रता से स्निग्ध कर दिया है।

सहवास जनित स्नेह और संस्कृति-जनित व्यवहार का यह समन्वय गुप्त जी की हार्दिक विशालता का परिचय मात्र है। मालूम होता है कि करुणा के ऐसे ही चरमोत्कर्ष के कारण भवभूति को एकोरसः करुणएव कहना पडा रहा होगा। करुणा की इस उद्भावना के साथ उपन्यास मे गुप्त जी ने सामाजिक विडम्बना पर भी प्रकाश डाला है। रामलाल ने एक डाकू को मार डाला है, इस कारण उसके हाथ का छुआ पानी भी कोई नही पी सकता और जब तक वह घर में रहेगा उसके स्वामी के यहाँ आई हुई बारात खाना खाने नही जा सकती है। (यद्यपि उस बारात मे बहुत से ऐसे शोषक और हत्यारे व्यक्ति भी रहे होगे जिनकी हत्याये रामलाल की हत्या से भी जघन्य और अमानुषिक रही होगी) रामलाल चुपचाप सब सहता हुआ बाहर जाने को तैयार हो जाता है क्योंकि उसे अपने मानापमान से अधिक अपने स्वामी की मान मर्यादा का ध्यान है।

'नारी' गुप्त जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसके कथानक मे प्रसाद जी की निम्नलिखित पक्तियाँ सजीव हो उठी हैं—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल मे,
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल मे।

वास्तव मे नारी का कथानक और निर्वाह दोनो समाज के अत्यन्त गहन स्तर का उद्घाटन करते हैं। नायिका जमुना की समस्याये भारतीय नारी की समस्याये हैं। जमुना का पति वृन्दावन कलकत्ता चला जाता है और बहुत दिनों तक उसकी कुछ खोज-खबर नही मिलती, जमुना जीवन से उदास और अतृप्त हो उठती है। उसके जीवन का आधार उसका पुत्र हल्ली है किन्तु उससे जमुना के पति-अभाव की पूर्ति होना न तो स्वाभाविक है और न सम्भव। वह प्रणय-भावना के आवेश में

कईबार विचलित तो होती है किन्तु सामाजिक मर्यादा के निर्वाह के लिये आत्म-दमन के द्वारा सतोष लाभ कर लेती है।

अजीत जमुना से अपने घर मे रहने का प्रस्ताव करता है और इसकी सुविधा के लिये वृन्दावन की मृत्यु भी जालसाजी से प्रमाणित करा देता है। जमुना की जातीय-प्रथा मे दूसरा पति कर लेने की मनाही नही है किन्तु उसकी स्वाभाविक पतिपरायणता उसे ऐसा करने से मना करती है। अपने पति के जीवित होने का समाचार पाकर वह अजीत के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देती है। वृन्दावन आता है और अपना खेत गाँव के साहूकार मोतीलाल के हाथ बेचकर फिर लौट जाता है क्योकि गाँव वालो से उसे यह विश्वास दिला दिया जाता है कि जमुना ने अजीत को वरण कर लिया है। जमुना का निरापराधी हृदय अतृप्ति की आकुलता से अत्यन्त उद्विग्न और चचल हो उठता है। उसके मन मे सामाजिकता की भावना और व्यक्ति की आधारभूत आकाक्षा को लेकर एक विकट सघर्ष उपस्थित होता है।

इस सघर्ष की प्रतिक्रिया स्वरूप जमुना अजीत के यहाँ रहना स्वीकार कर लेती है। जमुना की इस स्वीकृति मे समाज की मर्यादा और व्यक्ति की इच्छा के उपभोग का स्वाभाविक सामञ्जस्य है क्योकि जमुना का अजीत के प्रति आकर्षण ऐन्द्रिक न होकर कृतज्ञता ज्ञापन के रूप मे होता है। अजीत ने उसके पति की खोज मे बड़ी संलग्नता दिखाई थी, हल्ली की भी वह काफी चिन्ता करता है। जमुना अजीत के साथ रहकर भी अपने पति को क्षण भर के लिये नही भुलाती, उसके आने की कामना करती रहती है।

'नारी' के पूरे कथानक मे स्वाभाविकता तथा आस्तिकता की स्नेह-स्निग्धता का पूरा संयोजन हुआ है। जमुना के अजीत के यहाँ रहने में वासना की खोज करना मानसिक विकृति का परिणाम होगा क्योकि अजीत भी नारी को केवल भोग्य वस्तु समझने वाला व्यक्ति नही है। वह

आधुनिक

सच्चे हृदय से जमुना को उसके पति से मिला देना चाहता है। इसे हम वृन्दावन की मृत्यु को प्रमाणित कराने की हीनता की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। उसके चरित्र का विकास सहज मानवीय कमजोरियो को पार करता हुआ एक उच्च स्तर पर पहुँच जाता है। 'नारी' की विचार धारा में समाज नीति की आलोचना के साथ उसकी मर्यादा का रक्षण भी लेखक को मान्य है क्योंकि जीवन की सुचारुता तथा विकास के लिये नारी और पुरुष का विवाह-बन्धन ही सफल साबित हुआ है।

पाश्चात् देशो की नकल के आधार पर भारत मे भी मुक्त प्रणय-लीला के समर्थन का फैशन चल पडा है किन्तु नारी के लेखक की मान्यता सास्कृतिक और मर्यादित है। वे व्यक्ति को इच्छा के स्वतत्र उपभोग की अपेक्षा समाज-विधान के बीच मे उसको प्रतिष्ठा के पक्षपाती हैं। जमुना इसी कारण समाज की अपेक्षा अपनी भावनाओ से अधिक सघर्ष करती है। उसमे विद्रोह की तीव्रता न होकर विश्वास की गहनता है।

इस उपन्यास का सबसे बडा आकर्षण उसकी सीधी, सहज और प्रवाहमय करुण कहानी है। जमुना का जीवन हल्ली की बालोचित क्रीड़ा के साथ बहुत ही स्निग्ध गति से आगे बढता है। अपने सयत हास्य और मीठी चुटकियो द्वारा गुप्त जी ने कथा मे अपूर्व माधुर्य का सचार करने की कला मे कमाल दिखाया है, यह निर्विवाद है। करुणा, शृगार और वात्सल्य की त्रिवेणी से यह उपन्यास बहुत ही पवित्र और शीतल बन गया है, किन्तु चन्द्रमा मे कलक की भाँति कुछ खटकने वाली बाते भी हैं। हल्ली के खेल और मुकदमो का आधिक्य कहानी की गति मे कभी कभी बाधा उपस्थित कर देता है। हल्ली के साथी हीरा का वृन्दावन के नाम लिखा पत्र उसकी अवस्था के अनुकूल नहीं पडता पाठक की बुद्धि इस घटना को सहज ही स्वीकार कर लेने से इकार करती सी जान पड़ती है। कथानक के ऐसे अस्वाभाविक स्थल उसके प्रभाव को धीमा और अविश्वसनीय बना देते हैं।

जीवन के सम्बन्ध में जिस भाव की व्यञ्जना 'नारी' के अन्तिम पृष्ठों में की गई है, वह उतनी सहज नहीं जितनी गुप्त जी ने समझा है। गुप्त जी के पात्रों का चुनाव भारतीयता के जिन आधारभूत सिद्धान्तो के अनुरूप हुआ है उनका अस्तित्व आज नही के बराबर हैं, वे समाज से हटते से जा रहे हैं। "सह ले, इसे सह ले! कमजोर क्यों पड़ता है? जितना ही अधिक सह सकेगा, उतना ही तू बडा होगा"। इस आत्म-दमन के दर्शन से समाज के विकास और संघर्ष प्रस्फुटित नव-निर्माण मे बाधा उपस्थित होती है। आत्म-निपीडन की इस भावना का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की महानता बढ़ा सकता है किन्तु समाज के लिये इसकी व्यावहारिकता उपयोगी नही हो सकती है।

इन त्रुटियो के होते हुये भी गुप्त जी के उपन्यासो की अपील चिरस्थायी है। होटल और शराब तथा वासनोचित नारी-पुरुष व्यवहार से भरे कथा-साहित्य मे भारतीय ग्रामीण पात्रो की सुषमा पूर्ण एव स्वस्थ उपस्थिति देना गुप्त जी की प्रतिभा और आत्म-निष्ठा का प्रमाण है। गजल, कव्वाली और कबीरो के कोलाहल से भरे-पूरे कथा-साहित्य मे साम-गान के गायक की भाँति गुप्त जी प्रतिष्ठित हैं, इसे कोई भी इकार नही कर सकता है।

अपनी भावनाओ और विचार-धाराओं के प्रतिपादन का अनूठा और सशक्त ढग गुप्त जी की अपनी अलग विशेषता है। मानव-मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले मार्मिक स्थलो की सृष्टि गुप्त जी की मनोवैज्ञानिक दक्षता का परिचय सहज ही दे जाती है। समालोचक ने ठीक ही कहा है—जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है, जिसमे प्रकाश चाहे हल्का हो, पर धुँआ बिलकुल नही है। गुप्त जी के प्रायः पात्र ऐसे ही है, मधुर, स्निग्ध, तरल और विरल।

———

आधुनिक

अज्ञेय

अनुभूति मे आस्था और ज्ञान मे तर्क का आधिक्य रहता है। अनुभूति जन्य आत्मीय ज्ञान मे द्विविधा के प्रादुर्भाव से ज्ञान की भी श्रेणियाँ बनी—अनुभूत ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान अर्थात् विज्ञान। यही कारण है कि विज्ञान से हार्दिक भावना को तृप्ति नही मिलती उससे केवल हमारी बौद्धिक जिज्ञासा को विश्राम मिलता है। स्वाभाविक भी यही है क्योंकि विज्ञान मे अनुभव की अपेक्षा अन्वेषण का आग्रह अधिक रहता है।

वस्तुतः विज्ञान की उपज मनुष्य के आरम्भ-काल के बहुत बाद मे हुई, इसलिये वह जीवन की आन्तरिक आवश्यकता से दूर और बाह्य व्यवस्था के निकट पडता है। ज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे साहित्य है और अन्तिम अवस्था में विज्ञान। कुछ लोगो की धारणा है कि नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धानो के साथ ही साथ जीवन मे कुछ नवीन स्थायी-वृत्तियों का भी आविर्भाव हुआ है किन्तु यह भ्रम मात्र है। जीवन की प्रवृत्तियाँ वही पुरानी हैं उनका अनुभव केवल नया होता है। अकाश मे उडते हुये हवाई जहाज से गिर कर मरने का अनुभव वैज्ञानिक खोज की नवीन उद्भावना नही, किसी ऊँचाई से गिरकर मरने के बहुत पुराने अनुभव का ही प्रतिरूप है। इसी प्रकार भावो की नवीनता वास्तव मे नवीनता नही वरन् उनकी विविधता की सूचना मात्र है। वैज्ञानिक सभ्यता के विकास ने जीवन के लिये नये-नये अनुभवो का एक व्यापक क्षेत्र उपस्थित किया है किन्तु उससे जीवन की मूलगत भावनाओ का नवीन निर्माण नही हुआ। आगे भी किसी स्थायी-भाव के नवीन आविष्कार की सम्भाव ना नहीहै। अतएव विज्ञान को साहित्य बनने के लिये कल्पना, भावना, चिंतना

और रहस्य को भी अपनाना पड़ता है, बुद्धि-व्यापार के साथ अनुभव की आत्मीयता का भी आधार ग्रहण करना पड़ता है। साहित्य मे मनोविज्ञान की अवतारणा का यही ध्येय है।

प्लेटो ने एक जगह कहा है कि इन तमाम राजनीतिक समस्याओं के पीछे मानवीय प्रकृति का रहस्य निहित है, राजनीति को समझने के लिये हमे मानव-मनोविज्ञान को समझना चाहिये किन्तु मै तो समझता हूँ कि केवल राजनीति को समझने के ही लिये नही वरन् जीवन की किसी भी परिस्थिति अथवा धारणा को समझने के लिये मनोविज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है। साहित्य-सृजन भी इसकी अपेक्षा रखता है। सर्वहिताय होना साहित्य का सर्वमान्य सिद्धान्त है। अपने को विश्व के साथ एकाकार करना और समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिफलित करना ही साहित्य का साध्य है। 'एकोऽहं बहुस्यामि' की यही मूल चेतना है। साहित्य मे मनोविज्ञान इसी अभेद तथ्य तक पहुँचाने का बौद्धिक साधन है क्योकि सभी ज्ञान अपने चरम विकास मे एक हो जाते हैं।

इच्छा, भाव और ज्ञान के सश्लेषण से ही कर्म की प्रेरणा मिलती है, इसमे सन्देह नही। कर्म की प्रेरणा वैयक्तिक अधिक होती है सामूहिक कम। वस्तुतः साहित्य की पयस्विनी व्यक्ति के अडिग आधार से फूट कर देश, काल और पात्र की अनमेल परिस्थितियो के बीहड वन-पथ से प्रवाहित होती हुई सामूहिक समरसता के महासागर की ओर उन्मुख होती जाती है। उसमे गति और वेग की आकुलता आवश्यक है, विभेद से प्रारम्भ होकर अभेद मे उसका अन्त भी अनिवार्य है।

ज्ञान, चांहे भावगम्य हो चाहे बुद्धिगम्य वह अपने-आप में सीमित होता है। भाव अथवा बुद्धि की एकात्मक अहमन्यता उसे और भी संकुचित कर देती है। भ्रम की वास्तविक उलझन इसी अहकार जनित अहं-भावना मे पाई जाती है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय

आधुनिक

ने इसी अह-भावना के विश्लेषण की अपनी कृतियों मे चेष्टा की है, व्यक्ति के माध्यम से विश्व को चीन्हने पहचानने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र ने समष्टि-कल्याण की त्यागमयी बलिवेदी पर खडे होकर अह के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की है। जोशी ने 'सन्यासी' मे तटस्त और विवेकशील दृष्टि से उसका विश्लेषण किया है, अह के विस्तार का यथातथ्य चित्रण किया है। अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' मे अह की महानता का बडी सतर्कता के साथ समर्थन किया है। शेखर और सन्यासी (नन्दकिशोर) दोनो घोर अहवादी व्यक्ति हैं, अज्ञेय और जोशी ने अपने-अपने ढग से इनका विकास-चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। कहने की आवश्यकता नही कि ये दोनों कथा नायक मनोवैज्ञानिक हैं।

आत्म-बोध, समष्टि-बोध का आदि है किन्तु उसमे अनुभूति और बुद्धि दोनो की अपेक्षा रहती है। शेखर ज्ञानशील (बौद्धिक) और नन्दकिशोर अनुभूति शील है। अनुभव के मूल्य से प्राप्त विचार अधिक प्रसादमय तथा प्राणमय होते हैं और बुद्धि-प्राप्त विचार अधिक अन्वयात्मक, अस्पष्ट और विभेदमय होते हैं। शेखर और नन्दकिशोर की यही अन्तर-रेखा है। अधिक स्पष्टता से इसे यो भी कहा जा सकता है कि जो अन्तर एक विद्वान और एक द्रष्टा मे होता है वही शेखर और सन्यासी मे है। वास्तव मे बुद्धि-प्रयोग द्वारा अनुभूति की सच्चाई तक पहुँचना सहज नही होता, अज्ञेय को भी इसी कठिनाई का सामना करना पडा है।

शेखर के विकास मे विद्या, बुद्धि तथा अध्ययन की कमी नही, प्रायः ससार भर के विचारकों, दार्शनिको और विद्वानों के मत से उसका परिचय है किन्तु आत्मानुभूत सत्यो का उसमे अभाव है। जोशी ने नन्दकिशोर के निर्माण मे अध्ययन और अनुभव दोनो का सहारा लिया है। प्रायः प्रत्येक युग मे नवीन पीढी के बीच से कुछ ऐसे

व्यक्तियों का विकास होता है जो अनुभव और चिंतन की अपेक्षा अध्ययन के बल पर संसार का सारा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहते हैं। इस प्रकार के अध्ययन मे अन्तरानुभूति की जगह केवल सूचना-प्राप्ति की सम्भावना अधिक रहती है किन्तु सूचनाये तो सत्य तक पहुँचने की सीढ़ियाँ मात्र हैं स्वय सत्य नही। अध्ययन का ऐसा स्वभाव कलाकार को मनन का अवकाश नही देता है और वह जीवन विषयक किसी निश्चित उद्देश्य की कल्पना नही कर पाता, परिस्थितियो से प्रभावित इधर-उधर भटकता फिरता है। शेखर कुछ ऐसा ही है। परोपजीवी तथा किताबी ज्ञान जब जीवन की स्वाभाविक गतिशीलता मे बाधा उपस्थित करता है तब कलाकार उसे सुन्दर शब्द-विन्यासो, वर्णनो और भाषणो से आगे ढकेलने का प्रयत्न करता है। शेखर का असम्बद्ध कथानक इसका स्वय साक्षी है। विचारो, भावो तथा सिद्धातों की मौलिक प्रतिपादना कलाकार की प्रतिभा का प्रमाण है और विश्वज्ञान का सकलन उसकी कलात्मक शिथिलता का समारोह। कलाकार की रत्ती भर मौलिक शक्ति दूसरो की तोले भर शक्ति के बराबर होती है।

वास्तव में अध्ययन, भावन के लिये उतना ही महत्व रखता है जितना भ्रमण के लिये छड़ी। इससे अधिक वह व्यक्ति को अस्थिर बना देता है। रचनात्मक कार्यों के लिये अध्ययन के साथ मनन भी आवश्यक है। विशेषकर कथाकार का काम ससार के महान विचारों घटनाओं एव दृश्यो का सकलन नही वरन् आत्मानुभूत जीवन की मार्मिकता का उद्घाटन है। कला और इतिहास मे यही अन्तर होता है। उत्तम कोटि की कथा-कृति वही है जो जीवन की वाह्य रूप-रेखा की अपेक्षा उसके आन्तरिक स्तरो का स्पष्टीकरण करती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की तो यही उपयोगिता है। ऐसे उपन्यासो की सारी घटनाये किसी न किसी आन्तरिक रहस्यपूर्ण भाव अथवा विचार की सत्य स्थापना के ही लिये घटित होती हैं किसी वैचित्र या कौतुक

आधुनिक

के लिये नही। उपन्यास की घटनाओ और कथानक के विकास मे एक सुसगति और सामञ्जस्य का होना भी नितान्त आवश्यक है। तो क्या इस दृष्टिकोण से 'शेखर एक जीवनी' को उपन्यास कहा जा सकता है? कहानी, उपन्यास का शरीर और मानव-चरित्र-चित्रण उसकी आत्मा है, किन्तु शेखर मे कहानी का एकान्त अभाव है। बिखरी-बिखरी, उँखडी-उँखडी असम्बद्धित शृंखलाओ से उसे जोडने-तगोड़ने का प्रयत्न किया गया है।

शेखर का साधारण पाठक उसके कथानक को कभी नहीं समझ सकता। समय, सगति और स्वभाव की सयोजना, जिसके आधार पर पाठक कथानक के विकास के साथ आगे बढता है शेखर मे नही के बराबर है। सम्भवतः इसी कारण लेखक को पुष्प-चिह्नित अनेक विराम-स्थल खोजने पड़े हैं। कहने का आशय यह कि शेखर का कथा भाग बहुत ही कमजोर और विशृंखलित है। कथाकार जीवन की किसी घटना को, भाव को, सत्य को तथा सिद्धान्त को मनन करता है, अनुभव करता है, प्रभावित होता है और तब कलात्मकता के साथ नियोजित करके उसे अभिव्यक्त करता है। उसमे एक प्रकार का क्रम-विकास और कार्य-व्यापार का समन्वय उसके अस्तित्व और स्वाभाविकता का सरक्षक होता है। कथानक का लॅगड़ापन उपन्यास की सबसे बड़ी विडम्बना है।

मनोवैज्ञानिक कथानको मे इस प्रकार की भूलो की सम्भावना अधिक रहती है क्योकि मन के भावो का सकल्पात्मक प्रवाह कठिन होता है। ऐसी कला मे चितन की जितनी अपेक्षा रहती है, आज के कलाकार को उतनी फ़ुरसत नही और अभावमय जीवन की प्रतिक्रिया मे भाव कभी विचार क़ी श्रेणी में प्रतिष्ठित नही हो पाता। कला-प्राण व्यक्ति अपने को दूसरे मे खोना भी नही चाहता अतएव वह जीवन सम्बन्धी

खन्ड-भावना मे भटकने लगता है। शेखर के खन्डात्मक कथानक का यही रहस्य है।

शेखर के चरित्र-चित्रण पर भी विचार करना आवश्यक है। शेखर एक अहवादपूर्ण व्यक्ति का विकास है। बहुत लड़कपन से ही उसमे हम एक विशेष प्रकार की अहकारपूर्ण चेतना का आभास पाते हैं। होनहार बालको मे अहं का उदय होता भी जल्दी है, शेखर इसका अपवाद नही। वास्तव मे ससार के सारे ज्ञान का आधार व्यक्ति का अह ही होता है क्योकि वह व्यक्तित्व के निर्माणकारी उपादानो का सग्रह करता चलता है। इस दृष्टि से अह की प्रधानता बुरी नही किन्तु उसकी विकृति का परिणाम भी बहुत भयकर होता है। मनुष्य का ज्ञान अपने सम्बन्ध मे बहुत कम है। वह अपनी ही अन्तर्प्रेरणाओं के समझने मे असमर्थ है। कभी-कभी जिस कार्य को एक व्यक्ति अपना हित-साधक समझता है उससे उसकी हानि ही होती है वस्तुतः व्यक्तिगत हित-साधन से ऊपर उठना ही व्यक्ति का वास्तविक हित-साधन है। विकृत अह-ज्ञान मे व्यक्ति इसे नही समझ पाता, यह स्मरण रखना होगा। यही कारण है कि केवल निजत्व की पूर्ति के लिये जीवन का अनुसरण करता हुआ व्यक्ति कभी महान् नही हो पाया, इतिहास इसका साक्षी है।

सम्पूर्ण सृष्टि का प्रत्येक अश अपने मे एक ऐसा आकर्षण रखता है जो मानव-मन को अपनी ओर बराबर खीचता रहता है। जब तक व्यक्ति को अपने से अनुराग है तब तक ही वह ससार से अनुरक्त रह सकता है, इसमे सन्देह नही। जीवन और प्रकृति की रहस्यमयता सदा की भाँति ही चारो ओर बिखरी है किन्तु कलाकार उसका उद्घाटन नही करता, प्रत्युत अपने हृदय की उन वृत्तियो का स्पष्टीकरण करता है जो उस वातावरण के फलस्वरूप उसके मन मे उदय होती हैं। सत्य का यही नवीन तत्व जीवन के साथ शाश्वत है। अह का उचित

उपयोग इसी सत्य की स्थापना है। समाज में व्यक्ति के चरित्र-निर्माण की भाँति ही साहित्य मे कलाकार के अहभाव की प्रतिष्ठा कई प्रतिबन्धों के बीच मे होती है। कोई भी कला-विधान इस संयम का उल्लंघन नहीं कर सकता। जो जाति जीवन को जिस रूप मे देखती है वह उसी ढंग के साहित्य का निर्माण करती है। यह बताने की आवश्यकता नही कि भारतीय साहित्य मे विराटता की अपेक्षा महानता का आग्रह अधिक पाया जाता है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से शेखर उतना महान् नही जितना विराट है।

अज्ञेय की अन्य अनेक कहानियो का विदेशी वातावरण शेखर की भी प्राण-स्फूर्ति मे स्पन्दित है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि लेखक का बुद्धि-प्राप्त ज्ञान अभी भाव की सीमा मे प्रवेश नही कर पाया। बुद्धि-ग्राह्य विषय को भाव-रूप प्राप्त करने मे बहुत समय लगता हैं। मुसलमान काल की सभ्यता से निर्लिप्त रामचरितमानस का सृजन इस तर्क की पुष्टि का प्रमाण है। अँग्रेजी सभ्यता के प्रभाव से दिन प्रतिदिन क्षीण और अस्पष्ट होती हुई भी भारतीय सास्कृति सभ्यता साहित्य मे अपने को सुरक्षित रखेगी, यह मेरा विश्वास है। प्रत्येक विषय मे मनुष्य केवल अपने विवेक से उत्थित विचार प्रकट नही करता, सस्कार, सस्कृति और स्वदेशीय परम्परा का भी सहयोग लेता है। अपनी सस्कृति और परीक्षित परम्परा की रूढि से ऊबने वाले केवल अप्रगतिगामी व्यक्तियो को स्मरण रखना चाहिये कि साहित्य की यही रूढि-प्रियता उसके आधुनिक स्वरूप को भूत से एकदम विच्छिन्न नही होने देती। साहित्यगत जीवन मे भूत और वर्तमान का विच्छेद नही होता, बल्कि उसमे भविष्य का भी आभास रहता है।

शेखर के विकास मे पूर्वापर सम्बन्ध का पता नहीं चलता। कभी कभी ऐसा अवश्य लगता है कि किसी भूली हुई वस्तु को लेने के

लिये बहुत दूर बढ़कर वह फिर वापस आता है और तब आगे बढ़ता है। यह उसके विचारों की अप्रौढ़ता का प्रमाण है। साहित्यक कृतियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं—एक किसी विषय की विवेचना के लिये और दूसरी केवल कुछ लिखने के लिये। शेखर के अनेक अवतरण शायद केवल लिखने के लिये लिखे गये हैं जिनसे पाठको को लेखक की विधायक प्रतिभा का नही उसके अध्ययन की बहुलता का पता चलता है। लेखको की भी कई श्रेणियाँ होती हैं—कुछ लोग अपने अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को शीघ्र से शीघ्र शब्दों मे बाँध लेना चाहते हैं, कुछ लोग लिखने के साथ ही चितन का भी समावेश अपनी कृतियो में करते चलते हैं और कुछ लोग लिखने के पहले अपने विषय का पूर्ण मनन कर लेते हैं। शेखर का सृष्टा दूसरी श्रेणी का लेखक है। इस प्रकार की रचना में किसी सिद्धान्त विशेष की अमान्यता आवश्यक सी हो जाती है क्योकि रचनाकार अपनी भ्रान्त धारणाओ के सहारे भी मौलिकता का लोभ नही सँभाल सकता।

शापनहावर ने एक जगह लिखा है कि ऐसा लिखना जिसे कोई न समझे सब से सहज होता है, किन्तु शेखर को तो शायद स्वयं लेखक ने भी नही समझा। कहने का आशय यह कि शेखर के विकास का पता लेखक को भी उसके सम्पूर्ण निर्माण ही के बाद चला होगा अन्यथा वह उसकी अहमन्यता तथा असाधारणता को इस प्रकार बढने ही क्यों देता? साहित्य का सत्य कभी साधारण अथवा असाधारण नहीं होता, उसमे सामान्यता की सहज अभिव्यक्ति रहती है। यह तो मानी हुई बात है कि मनोवैज्ञानिक चरित्रो के निर्माण की खूबी उनकी असाधारण परिस्थितियो के ही विश्लेषण मे सभव होती है किन्तु उनके जीवन के फल स्वरूप उद्भूत सत्य स्वय कभी असाधारण नही होते। फिर शेखर के अध्ययन से, उसकी विकृतियों के सम्मानपूर्ण विश्लेषण से पाठकों को किस सहज सामान्य सत्य का बोध होता है? साहित्य मे सहज,

आधुनिक

स्वाभाविक और सामान्य का ही महत्व होता है कठिन, अस्वाभाविक और असामान्य का नही। ससार के सभी प्रतिभावान लेखको ने अपने विचारो को सदैव स्पष्टतया निस्सकोच भाव से और थोड़े ही शब्दों में व्यक्त किया है। शेखर मे उद्धृत अनेक विद्वानो के अवतरण उदाहरण के लिये परियाप्त हैं। वास्तव मे सहज अभिव्यक्ति सत्य की प्रधान शक्ति है।

कलाकार के रोम-रोम मे उसके अनुभूत सत्य की आत्मा व्याप्त रहती है। इसीलिये उसकी अभिव्यक्ति दूसरो के लिये उपयोगी और प्रिय साबित होती है। इसके विपरीत जब कलाकार दूसरो के अनुभवों को समेट कर उनकी अभिव्यक्ति करना चाहता है तब वह कला न होकर उसकी कथरी के रूप मे सामने आती है। उसके अलग-अलग टुकड़े रगीन, कीमती और आकर्षक भी हो सकते हैं। भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'निमत्रण' और अज्ञेय का 'शेखर' औपन्यासिक कथरी के अन्यतम उदाहरण हैं, इसमे सन्देह नही। यहॉ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि अज्ञेय, वाजपेयी से अधिक प्रतिभा-सम्पन्न और अध्ययनशील हैं। किन्तु दोनो की कृतियो के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे उस विषय के जानकर बनने का भ्रम उत्पन्न करना चाहते हैं जिसे वे नही जानते, अपने को उस विषय का विचारक साबित करना चाहते हैं जिसके बारे मे उन्होने कभी कुछ नही सोचा और स्वभावतः कुछ ऐसा कह जाते हैं जो कभी नही कहना चाहते थे। दूसरो के लिये फैलाये गये जाल मे जैसे स्वय फॅस गये हो। इसका एकमात्र कारण यह है कि इन दोनो लेखको ने आत्मानुभूत जीवन और सत्य के प्रति अपना उतना आकर्षण नहीं दिखलाया जितना उसकी सामयिक तथा आन्दोलित विविधता के प्रति दिखाया है।

साहित्यकार के लिये इस तथ्य का जान लेना आवश्यक है कि विचार मस्तिष्क से कागज में आसानी से उतर सकता है किन्तु कागज

(पुस्तक) से मस्तिष्क में पहुँचना बहुत कठिन होता है। यही कारण है कि साहित्य-सृजक के लिये विश्व-ज्ञान के अध्ययन की उतनी अपेक्षा नही जितनी जीवन के अनुभव और विचारो के सचरण की होती है। कलात्मक सृष्टि से हम शक्ति ग्रहण करते हैं, ज्ञानोपार्जन नही करते क्योकि शक्ति से जीवन का स्तर ऊपर उठता है और ज्ञान से आगे बढ़ता है। कलाकार ससार को देखकर जीवन का अनुमान नही करता वरन् जीवन के आधार पर ससार का अनुमान करता है। सम्भवतः इसीलिये वह कभी बाहर की मॉग को पूरा करने के लिये अपने आन्तरिक अनुभव की उपेक्षा नही करता। यह कौन नही जानता कि ससार की घटनाये समय-सापेक्ष होती हैं किन्तु उन घटनाओ का सत्य सनातन होता है। सन् १६४२ के अगस्त की घटना अब पुरानी हो चुकी पर उसके भीतर का सत्य भारतीय-जीवन के साथ एक शाश्वत तत्व है। सम्भवतः इसीलिये उपन्यासकार घटनाओ का नही उनके अस्तित्व के सत्य का निरूपण करता है। तभी तो घटनाये काल्पनिक होकर भी जीवन के आधारभूत सत्य का उद्घाटन करने मे समर्थ होती हैं।

शेखर एक जीवनी की भूमिका का पहला वाक्य है—वेदना मे एक शक्ति' है जो दृष्टि देती है। जो यातना मे है, वह द्रष्टा हो सकता है। यह ठीक है किन्तु यातना की वास्तविकता और उसकी भयभीत कल्पना में अन्तर है। शेखर, यातना मे नही वरन् उसके 'विजन' से त्रस्त है। फॉसी की कठोर कल्पना उसके ऑखो मे नाच रही है और वह इसी काल्पनिक भय की भावना से व्याकुल होकर अपने जीवन की गतिविधि का खुलासा पाठको के सामने रखना चाहता है, अपने अतीत जीवन को दुबारा जीना चाहता है। स्वभावतः उसे फूलो की अपेक्षा अधखिली कलियॉ तोडना ही अच्छा लगता है। अपनी भावनाओ के इस आन्दोलन में वह हवा के झोके मे पड़े हुये सूखे पत्ते की भॉति इधर-उधर अटकता-उडता फिरता है। वह यह भी जानता है कि

आधुनिक

'उसके जीवन की सत्यता क्या है ? वायु मे उडती हुई धूल पर खिंची रेखा, और बस'।

शेखर के निर्माण मे लेखक ने रोमॉरोलॉ के उपन्यास 'जॉनक्रस्टाफर' को भी सम्भवतः सामने रखा है पर शेखर और जॉनक्रस्टाफर मे वही अन्तर है जो रोमॉरोलॉ और अज्ञेय मे है। जो भी हो शेखर, उपन्यासों की एक नई दिशा की सूचना अवश्य देता है। एक व्यक्ति की सम्भाव्य शक्तियो और इच्छाओं का उसमे निर्भीक और सहानुभूतिमय सगठन है। अपने जीवन-विकास के स्वनिर्मित पथ का अनुसरण करता हुआ शेखर पाठकों को ज्ञान के अनेक गूढ़ अस्तरो का दिग्दर्शन कराता चलता है और लेखक 'उसके जीवन के सत्यो को पढकर, उनका निष्कर्ष निकालकर उन्हे शब्द-बद्ध' करने मे सफल हुआ है।

एकबात और। शेखर की भाषा हिन्दी-अंग्रेजी की एक अजीब खिचड़ी है, हिन्दी का पाठक उसके आस्वादन से वंचित सा रह जाता है। सारे उपन्यास की शैली बहुत क्रत्रिम और आत्म-विज्ञापन से बोझिल है। यही कारण है कि इतने सुन्दर साधनो के होते हुये भी उपन्यास की सिद्धि से न तो पाठकों को सन्तोष होता न स्वय लेखक को। अन्त मे यह बता देना भी आवश्यक है कि शेखर की जीवनी को लेखक की जीवनी समझने का भ्रम पाठको को कभी नहीं हो सकता क्योंकि वह निश्चित रूप से जानता है कि शेखर का विकास, लेखक की कृपा का उतना आभारी नही जितना स्वय अपनी अहभावपूर्ण आशकित प्रगति का। इसी से शेखर की तरह व्यक्ति-व्यस्त कला सामूहिक कल्याण का कारण नही बन सकती।

यशपाल

हिन्दी-साहित्य मे जीवन की प्राण-प्रतिष्ठा का साहित्य अपेक्षाकृत कम है। इसका कारण यहाँ के साहित्यको की राजनीतिक उदासी है। 'कोउ नृप होय हमें का हानी' का पुराना सिद्धान्त अभी तक लोगों में अपनी चरितार्थता पाता जा रहा है। दासमलूका का दाता राम के प्रति अटल विश्वास हम पर अब भी अपना प्रभाव रखता है।

इधर कुछ वर्षों से साहित्यकों का ध्यान जीवन की मौलिक प्रवृत्तियों और उनके आधार की ओर उन्मुख हुआ है, स्वभावतः राजनीतिक साहित्य का भी सृजन होने लगा है। साहित्य के मूल सिद्धान्तो का सम्बन्ध मानव-जीवन के निर्माणकारी तत्वो से है जिनमे राजनीति भी एक है। कॉग्रेस का इतिहास ऐसे साहित्य का शुभ श्री गणेश कहा जा सकता है।

जीवन क्या है, इस विषय पर विवेचना तो बहुत हुई है पर इसके विषय मे कोई निश्चित और सर्वमान्य विचार अब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सका। यदि जीवन और उसका उद्देश्य ठीक तरह से समझ लिया जाय तो उसकी गतिविधि का क्रम-विकास और उसके नव-निर्माण का दिशा-ज्ञान सहज ही मे बोधगम्य हो सकता है। मानव-जीवन एक साथ ही व्यक्तिगत और सामाजिक, सामान्य और विशेष भी है क्योकि उसकी मूल चित्तवृत्तियाँ और चेष्टाये प्रायः सब मे समान रूप से परिव्याप्त हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपना एक अलग निजत्व और व्यक्तित्व भी रखता है। साहित्यकार, वैयक्तिक विचारधारा के माध्यम से मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का निरीक्षण तथा परीक्षण करता है।

आधुनिक

समाज, मानव का बौद्धिक निर्माण है अतएव उसका वहिर्मुखी होना आनिवार्य है। मनुष्य की इन्द्रियों का निर्माण भी वहिर्मुखी है, स्वभावतः वे अन्तरात्मा की अपेक्षा सासारिक विषयो की ओर अधिक आकर्षित रहती हैं। मनुष्य के इस स्वाभाविक निर्माण के प्रतिकूल एकदम अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो की उद्भावना जीवन के यथार्थ से मुँह फेरना है। यही कारण है कि अनुभवी जीवन-द्रष्टाओ ने जीवन के पुरुषार्थ और सफलता के चार अग अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष बताये हैं। इनमे से किसी एक की उपेक्षा जीवन की पूर्णता मे व्याघात पहुँचाती है। इस दृष्टिकोण से मानव-जीवन के स्पष्ट दो प्रधान उद्देश्य हुये—विषयानन्द और ब्रह्मानन्द। भारतीय साहित्य ने जीवन की परिस्थितियों के अनुसार ब्रह्मानन्द पर ही अधिक जोर दिया है।

युगो की गुलामी और अर्थ-पीडन की विवशता स्वरूप भारतेन्दु ने साहित्य मे प्रथमवार राजनीतिक (राष्ट्रीय) कविताओ के सृजन द्वारा जीवन की अर्थमूलक प्रवृतियो की साहित्य मे प्रतिष्ठा की, इस विषय मे वे प्रथम राजनीतिक लेखक कहे जा सकते हैं। उनके बाद काव्य की यह धारा कभी क्षीण और कभी प्रबल वेग के साथ सतत् प्रवाहित होती चली आ रही है। गद्य-युग के आविर्भाव के साथ प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' नामक प्रथम राजनीतिक उपन्यास लिखा, जिसमे तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन का विषद चित्रण पाया जाता है। प्रेमचन्द के समय से आज के विश्व और भारत का राजनीतिक वातावरण परिवर्तित होकर बहुत आगे बढ गया है। इसमे सन्देह नही कि देश के स्वाधीनता-सग्राम का जैसा उत्साहपूर्ण और सक्रियस्वरूप हमे 'कर्मभूमि' और 'समरयात्रा' मे मिलता है वैसा अन्यत्र नही किन्तु आज की स्थिति कुछ दूसरी ही है।

विश्व-जीवन की विपन्नता और राष्ट्रीय-जीवन की दरिद्रता के फल स्वरूप आज का भारत संसार के शोषित वर्ग के साथ अपनी रक्षा का उपाय, समाजवाद की सामूहिक और समतामयी भावधारा मे टटोल

रहा है। ठीक भी है, आज भारत को अमरकान्त और सलीम को ही एकता के अटूट सूत्र मे बाँधने की आवश्यकता नही है, वरन् वह ससार के उन सभी असख्य शोषित और उपेक्षित मानव-ककालो को एक में समेटना चाहता है जिनका अगुवा सोवियत रूस है। आज सोवियत रूस की जन-सगठन-शक्ति ने ससार को आश्चर्य चकित कर दिया है। सभी उसकी आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की ओर आकर्षित है और ससार के एक छोर से दूसरे छोर तक समाजवाद की लहर लहरा रही है। भारत अपनी राजनीतिक स्थिति के अनुकूल इस व्यवस्था के लिये परम उपयुक्त और चरम उत्सुक है। साहित्य में भी इस विचारधारा का आग्रह बढता जा रहा है। यशपाल का कथा-साहित्य इसी ओर का असफल प्रयास है। 'दादा कामरेड' की असफलता को उनका प्रथम प्रयास कहकर टाल सा दिया गया था किन्तु 'देशद्रोही' मे वे और भी अधिक असफल हैं। रचना कौशल और रोचकता में देशद्रोही 'दादाकामरेड' से अवश्य ही अधिक सफल है किन्तु उसके राजनीतिक उपन्यास होने की विफलता ज्यो की त्यो बनी रह गई है।

जहाँ तक उद्देश्य और भाव-धारा का सम्बन्ध है, देशद्रोही से किसी का मतभेद सम्भव नही किन्तु उसकी सैद्धान्तिक त्रुटियाँ और चरित्र-विकास की विडम्बनाये बडे उभार के साथ पाठको के सामने आ डटती हैं, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। परिचय मे लेखक ने लिखा है—'लेखक यदि कलाकार है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे श्रमियो की भाँति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने मे ही है। समाज के अस्तित्व से भिन्न लेखक की कल्पना कर सकना सम्भव नही। उसकी कला या प्रयत्न समाज की अनुभूति या आदर्श हैं। .....वह श्रेणी सघर्ष और राष्ट्रो के सघर्ष के रूप मे प्रकट होता है। साहित्य का कलाकार केवल चारण बन सौन्दर्य, पौरुष और तृप्ति की महिमा गाता रहकर ही अपने सामाजिक कर्तव्य को पूरा नही कर सकता। विकास और

आधुनिक

पूर्णता के सामाजिक प्रयत्न की इच्छा और उत्साह उत्पन्न करना, उस उत्साह को विवेक और विश्लेषण की प्रवृत्ति द्वारा सजग और सचेत रखने की भावना जगाना, साहित्य के कलाकार का काम है। अगले पृष्ठो मे अपनी इसी धारणा को लेखक के कर्तव्य और अधिकार की दृष्टि से निवाहने का प्रयत्न किया है'। वास्तव मे इस कर्तव्य के निर्वाह का साहित्य किसी भी देश के गौरव का प्रतीक है किन्तु लेखक स्वय अपने साहित्य का निर्वाह अपने मापदण्ड के अनुसार नही कर सका। 'देशद्रोही' को पढकर साहित्य के उपर्युक्त उद्देश्य की सुचारुता की अपेक्षा उसकी विरूपता का ही आभास मिलता है।

उपन्यास की प्रारम्भिक 'अजानी अधेरी राह' मे फौजी डाक्टर खन्ना को कुछ वजीरी न जाने क्यो पकडे लिये जा रहे हैं, दूसरे चैप्टर 'समय का प्रवाह' मे पाठको को खन्ना के विद्यार्थी जीवन और दिल्ली के उस वातावरण का परिचय दिया गया है, जिसमे डा० खन्ना का पालन-पोषण एव वर्द्धन हुआ है। उस जीवन का सार रूप यह है कि डा० खन्ना का साथी शिवनाथ उसके साथ बम बनाने के अपराध मे पकडा गया और खन्ना चुपचाप अपनी डाक्टरी परीक्षा की तैयारी करता रहा।

शिवनाथ अपनी अकेली बहिन जमुना को जेल के बाहर छोड गया था। शिवनाथ, जेल से छूटने के पश्चात् आतंक की अपेक्षा काग्रेस की नीति स्वीकार करके काग्रेस-सोशलिस्ट बन जाता है। बद्रीबाबू, एक सच्चे और कर्मनिष्ठ काग्रेसी उसके सहयोगी-साथी हैं। बद्रीबाबू और शिवनाथ को लकर लेखक ने काग्रेस की नीति तथा व्यवस्था पर अपना मनतव्य जाहिर किया है, जिसमे काग्रेस की व्यवस्था का उपहासास्पद एव बहुत ही विद्वेष-व्यग पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। शिवनाथ के शब्दो मे लेखक की धारणा इस प्रकार है—"काग्रेस के भीतर सगठित होकर वैधानिक उपायों द्वारा उसे समाजवादी शक्ति बना सकने का स्वप्न व्यर्थ है। श्रेणी सघर्ष की चेतना शोषित वर्ग मे उतनी अधिक

जाग्रत नही, जितनी कि शोषक वर्ग और उनके सहायको मे हो रही है। कारण यह है कि वे शिक्षित हैं और साधन सम्पन्न। काग्रेस को जनमत से समाजवादी शक्ति बनाने के प्रयत्न कॉग्रेस के विधान के अनुसार अवैधानिक बनते जा रहे है। जनमत पैदा करने के साधन सब पूँजीपतियो के हाथ मे है। वे शोषित जनता के 'हायरोटी' कहने को संकीर्णता, स्वार्थ और श्रेणी-हिन्सा कहते हैं और अपनी श्रेणी के अधिकार बढाने के आन्दोलन को 'हायदेश' कह उसे त्याग बताते हैं। यदि काग्रेस आन्दोलन में सहयोग दे पाने की शर्त ईश्वर मे विश्वास होना हो सकती है तो फिर जनता को मूर्ख बनाया जा सकने की कोई सीमा नही"।

शिवनाथ का यह आक्षेप लेखक के विचारो की छाया मात्र है। जब व्यक्ति नीति और सिद्वान्तो को छोडकर अपने पक्ष का पक्षपात पूर्ण प्रतिपादन करने लगता है तब दूसरे पक्ष के प्रति उसकी कटुता इसी प्रकार बढ जाती है। यशपाल को केवल इतने ही से सन्तोष नही हुआ अतएव उन्होने काग्रेस के वास्तविक हिमायती बद्रीबाबू के चरित्र की जो चरम परिणति दिखलाई है वह स्वाभाविक और सहज न होकर प्रतिस्पर्धा और व्यक्तिगत राग-द्वेष से प्रेरित सी जान पडती है। इसमे सन्देह नही कि कोई भी सिद्धान्त व्यक्ति के ही माध्यम से अपनी साकारता पाता है किन्तु व्यक्ति की अपनी हीनता कभी सिद्धान्त को कलकित नही कर पाती अन्यथा डा० खन्ना का समाजवाद संसार के लिये भयावह हो उठता।

डा० खन्ना कैद से मुक्ति पाने के लिये अपने भाई को रुपया भेजने का पत्र लिखता है पर न रुपया आता न पत्र का उत्तर। डा० उदास और खिन्न सा रहने लगता है। दो चार पठान सुन्दरियाँ जैसे उसकी उदासी को दूर करने के लिये उसकी ओर आकर्षित होती हैं और वह स्वयं उनके रग मे रँग सा जाता है, शायद गम गलत करने के लिये? मन

आधुनिक

में रोमॉस की लालसा और पठानों की भय के संघर्ष ने डा० खन्ना की हालत बहुत ही खराब कर दी, न वह खुलकर अपनी प्रेमिकाओं का स्वागत ही कर सकता था और न उनसे एकदम विरक्त ही होने की उसमें क्षमता थी। सुन्दरियो के उस पर पुरुषत्व-हीनता के आक्षेप भी बराबर होते जाते थे, जिन्हे चुपचाप सुनने की अपेक्षा उसके पास और कोई चारा न था। ईद के दिन डा० को कलमा पढ़ाकर मुसलमान बना दिया गया और गजनी मे पोस्तीनो के व्यापारी अब्दुल्ला के हाथ वह निराश प्रेमी बेच भी दिया गया। अब्दुल्ला के आवारे लडके नासिर से उसकी दोस्ती हुई और कुछ दिनों मे डा० उसका बहनोई भी बन गया।

उधर दिल्ली मे डा० खन्ना की धर्मपत्नी राज ने बद्रीबाबू की सहायता से सार्वजनिक जीवन का व्रत लिया और उन्ही के साथ रहने तथा काम करने लगी। गजनी मे डा० खन्ना नर्गिस की 'हंस की ग्रीवा के समान कोमल बॉहो मे आबद्ध हो गया और उसकी कल्पना की दूरगामी उडान, बॉहो मे सिमिटी, रसभीनी वास्तविकता के चारो ओर लिपट कर रह गई। रंगीन उपवनों से छिटकी और उत्तुङ्ग हिरमजी पहाडों से घिरी गजनी की उपत्यका से परे ससार का अस्तित्व उसके लिये रह ही न गया' किन्तु स्वभाव की यह वासनोचित विदग्धता अधिक दिन तक स्थिर न रह सकी और डा० नर्गिस तथा गजनी से ऊब उठा।

एक दिन वह नर्गिस और गजनी को छोडकर अपने मित्र नासिर के साथ रूस की सीमा मे पहुॅच गया। वहॉ उसका परिचय शिशुशाला की अध्यक्ष कामरेड खतून से हुआ और इस प्रकार वह कम्यूनिज्म के अधिक निकट आ सका। खतून को दिल की बीमारी है। अपनी छाती पर डा० खन्ना का हाथ दबाकर उसने उसको अपनी बीमारी की दवा चाही मगर डा० खन्ना दवा न कर सका। परिणाम यह हुआ कि खतून के मन में डा० खन्ना के प्रति एक वात्सल्य का भाव जाग पड़ा

और उसने गुलशाँ को अपने भाव की तृप्ति का साधन बनाना चाहा, जैसे भारतीय नारी की बहू देखने की इच्छा उसमे भी पुलकित हो उठी। डा० खन्ना तीसरी बार वर बनने का स्वाग न कर सका और चुपचाप गुलशाँ की झुकी हुई लम्बी पलको को देख देखकर दूर से कुढ़ता रहा। काल्पनिक विचरण और पलायनवादी अनुसरण के अनुकूल डा० खन्ना कामरेड खतून की आशा और गुलशाँ की प्रत्याशा से अपना पीछा छुडाकर राजनीतिक शिक्षा प्राप्ति के बहाने वहाँ से भी भाग निकला। मास्को मे भी गुलशाँ ने उसकी कल्पना का साथ नहीं छोडा क्योकि जब कभी 'आँखे मूदे कल्पना मे वह राज की गोद मे सिर रखे विश्राम करना चाहता था तभी राज से पहले गुलशाँ उपस्थित हो जाती थी'। पत्र लिखकर उसने गुलशाँ से क्षमा माँगी और जीवन भर उसे याद रखने का भावुक आश्वासन भी दिया। बेचारा इससे अधिक कर भी क्या सकता था?

राजनीतिक शिक्षा और रोमासो का अनुभव लेकर डा० खन्ना अपने मित्र नासिर के साथ भारत वापस आता है। इसी बीच जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और डा० खन्ना को जगह-जगह जाकर लोगो को जन-युद्ध की व्यवस्था समझाने का मौका मिला। किन्तु 'चोरबा का मन बसे ककरी के खेत, वाले सिद्धान्त के अनुसार जमुना से भेट करके उसने राज का पता लिया, जिसमे उसे मालूम हुआ कि राज ने बद्रीबाबू से विवाह कर लिया है। यही से डा० खन्ना का ग़मगलत करने की प्रथा के अनुसार निष्क्रिय रोमास फिर शुरू हो गया और समाजवादी कार्य-क्रम मे व्यवधान पडने लगा। व्यक्तिगत सुख-लिप्सा की आकाक्षा से सिद्धान्तो को एकदम विस्मरण कर देने वाला कोई भी व्यक्ति डा० खन्ना से होड नही ले सकता।

आश्रय और साथी ढूढने की इच्छा से डा० खन्ना ने अपनी साली चन्दा और उसके पति राजाराम से भेट की और कई दिनों के सम्पर्क

आधुनिक

और सहवास के बाद एक दिन चन्दा से बोला—'अपनी गोद मे स्थान देकर वह उसे सहारा दे सकती है' । चन्दा ने भी सहज ही डा० खन्ना 'का सिर अपनी गोद मे ले उसके माथे को सहलाने लगी' । डा० खन्ना का मनोरथ पूरा हो गया और वह कहने लगा—'मन चाहता है जैसे शशि (चन्दा की छोटी लडकी) तुम्हारी गोद मे छिप जाती है, वैसे ही शशि बन जाऊँ' । चन्दा ने भी सकोच के साथ कह ही दिया—'तो क्या उससे कम हो' ? पति की सन्देह-शका से पीडित होकर एक दिन चन्दा छत से नीचे कूद पडी डा० खन्ना अपने सिद्धातो के अनुसार जनता के बीच मे काम न करके एक सन्देहशील व्यक्ति की पत्नी की सेवा और दवा करता है। शायद केवल इसीलिये कि गोद मे लेटने की अपनी उत्कट इच्छा का कईबार स्पष्टीकरण कर सके ?

अगस्त की भारतीय तोड़-फोड के बाद काग्रेस के अन्य अनेक कार्यकर्ताओ की भाँति शिवनाथ भी फरार हो जाता है और डा० खन्ना जब कभी चन्दा की गोद में लेटकर विश्राम करता हुआ जनता के बीच मे कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है । एक दिन चन्दा के आँसू चूमकर उसने उसके दुखी होने का कारण पूछा । चन्दा ने अपने पति की निर्ममता से ऊबकर उसके साथ कही निकल भागने की इच्छा प्रकट की किन्तु डा० खन्ना तो केवल उसकी गोद मे लेटना चाहता है, उसका भार नही सँभालना चाहता । चन्दा के जीवन मे अपनी निर्बल वासना से वह सघर्ष तो उपस्थित कर देता है किन्तु उसके सुझाव का साधन वह नही बनना चाहता । क्योंकि जीवन मे वह अकर्मण्य और पुरुषार्थहीन है, सघर्षशील और कर्मट नही । चन्दा की स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक उपेक्षा की प्रतिक्रिया स्वरूप वह एक बार मजदूरो के बीच में बहुत ही डरता-डरता पहुँचता है और मिल की हडताल मे मजदूरो को समझाते समय बुरी तरह से घायल होता

है। चन्दा अपने पति की गैरहाजिरी में उसे लेकर अपनी बहन राज के पास चल देती है।

जो खन्ना कभी स्वस्थावस्था मे राज के पास नही जा सका था वही डोली मे लदकर उसके पास जाने को तैयार हो जाता है। राज के नये जीवन मे अपनी स्थिति का अस्तितत्व न पाकर वे दोनो उसी रात वहाँ (रानीखेत) से वापस हो जाते हैं। राजाराम पता लगाता अपनी पत्नी को खोजता हुआ उसे पहाड़ी रास्ते मे पा भी जाता है और लात, तमाचा आदि के प्रहार भी उस पर करता है। वह चुपचाप कसाई की बछिया की भाँति सब सहती हुई उसके साथ अपने घर को चल देती है। खन्ना के मना करने पर राजाराम कहता है—चुप धूर्त, देशद्रोही, बदमाश' डा० खन्ना को उसी असहाय अवस्था मे उसी जगह छोडकर वह चन्दा को टाँगकर चल देता है। डा० खन्ना का सिर पत्थरो के ढेर से टिका था मगर वह सोच रहा था कि उसका सिर चन्दा की गोद मे है और जीवन-सग्राम मे समाजवादी भाग लेने के लिये वह एकबार और स्वस्थ हो रहा है। इसी कल्पना की कोमल क्रोड मे वह अपनी प्राण-शक्ति का विसर्जन कर देता है और यही उपन्यास का अन्त है।

इस प्रकार 'देश द्रोही' न तो सामाजिक उपन्यास हो पाता न ाजनीतिक। उसे रोमान्टिक भी नहीं कह सकते क्योंकि डा० खन्ना ़ रोमास भी अबोध बच्चों के खेल से अधिक महत्व नही रखते। उसके ामासों का महत्व केवल इतना ही है कि वे उसके सारे सैद्धान्तिक ार्य-कलापों का अन्त कर देते हैं। लेखक ने डा० खन्ना के रोमान्सों ा चित्रण जिस मनोयोग और रसिकता से किया है उसके सामने जदूर वर्ग और उसकी समस्याओं का उद्‌घाटन नगण्य सा प्रतीत होता । डा० खन्ना को भारत से लेकर रूस तक की सैर कराकर, अन्त में

आधुनिक

कुत्ते की मौत मारकर उसका जो चित्र उपस्थित किया गया है वह न तो श्रेय है न प्रेय।

पाठक यदि उसे राजाराम के साथ घृणा की दृष्टि से न देखें तो यह उनकी अपनी क्षमता है। जीवन भर वह प्रेमिकाओ की कोमल निरावरण बाहों और सुवासित नरम केश-पाशों, में केवल उलझता-सुलझता रहा और अन्त में भी निष्क्रिय प्रेम-कल्पना की गोद मे अपने को भस्मीभूत कर दिया, इससे अधिक और उसका कोई कार्य-कलाप नही है। समाजवादी दृष्टिकोण के प्रतिपादन की इच्छा से रचित उपन्यास का नायक इतना निकम्मा, निर्लज्ज तथा अनउत्तरदायित्व पूर्ण बनाकर लेखक ने अज्ञात रूप से इस विचार धारा पर बहुत भारी आघात पहुँचाया है। संघर्ष से विमुख तथा सुख-लिप्सा मे लीन और कल्पना के आधार पर आश्रित व्यक्ति को समाजवादी कहना, समाजवाद का मजाक उडाना है जो साहित्य की प्रगति के विरुद्ध और लोक-कल्याण की भावना के प्रतिकूल है।

डा० खन्ना का ही नही प्रायः सभी पात्रों का परिचय अपूर्ण और मानसिक विकृतियो से बोझिल है। लेखक के स्त्री पात्रो के चरित्र-चित्रण पढने के पश्चात् नागपचमी के दिन बालको द्वारा गुडिया पीटने की प्रथा का स्मरण हो आता है। उपन्यास के अनुभव हीन काल्पनिक वर्णन भी रोचक होकर रह गये हैं, उनमे यथार्थ-चित्रण की सजीवता खोजना भी उचित नही जान पड़ता। नासिर का विदूषक अपनी 'कार्य-कुशलता मे अस्वाभाविक, अतिश्योक्तिपूर्ण और अविश्वस्नीय हो उठा है क्योकि किसी अजनबी देश की वेश-भूषा, भाषा तथा चाल-ढाल अपनाने मे जितना समय अपेक्षित है लेखक ने उसे नही दिया। ठोंक पीटकर उसे केवल सुजानसिंह बना दिया है। फिर भी, भाषा के अटूट अधिकार, व्यग और हास पर निर्भीक गति तथा वर्णन की रोचकता में लेखक को काफी सफलता मिली है। अस्तु

इन सब बातो का ध्यान रखकर यदि हम डा० खन्ना को देशद्रोही न भी कहे तो उसे समाजद्रोही अवश्य कह सकते हैं।

डा० रामविलास के हस मे प्रकाशित लेख से पता चला कि यह उपन्यास राहुल जी को बहुत पसन्द है। पता नही क्यो? श्रमण के नाते इस उपन्यास का कथा नायक डा० खन्ना प्रख्यात समाजवादी राहुल जी से होड लेता सा जान पडता है किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें राहुल जी के साहित्यिक दृष्टिकोण को तृप्ति देने के लिये और कुछ नही है। लेखक तर्क और बुद्धि से समाजवादी ज्ञात होता है किन्तु उपन्यास में अभी वह प्रेम सम्बन्धी विचारो की सीमित परिधि से ऊपर नही उठ सका। उसे केवल अस्वस्थ और असामाजिक प्रेम का चित्रकार माना जा सकता है नकि किसी राजनीतिक सिद्धान्त की उद्भावना का अग्रदूत।

साहस, सयम और लगन मे कोई भी सार्वजनिक कार्यकर्ता अपने सिद्धान्तो के सामने रोमान्स की विकृत रगमयता का आधार नही ले सकता, ऐसा मेरा विश्वास है। काश कि डा० खन्ना को लेखक ने कम्यूनिस्ट बनाकर आदर्श के रूप में उपस्थित न किया होता तो देशद्रोही शरद के सामाजिक उपन्यासो के बीच मे खप जाता और उसकी गुरुता भी बढ गई होती क्योकि डा० खन्ना सामान्य मध्यवर्गीय प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि हो सकता था नकि समाजवाद का स्वाँग। कोई भी कम्यूनिष्ट अपनी प्रेमिका की गोद मे सिर रखने की काल्पनिक रसनिमग्नता मे अपना जीवन नही त्याग कर सकता, यह निश्चय है।

अन्त मे यह कहना अनुचित न होगा कि लेखक ने अपने वक्तव्य के 'शिष्णोदर' की पूर्णता को छोडकर केवल योनि तृप्ति की विवेचना में उलझ सा गया है। माना कि उपन्यास मे समाजवादी दृष्टिकोण का बहुत सुन्दर विवेचन और विवाद है पर उपन्यास के प्रधान आधार नायक, डा० खन्ना का चरित्र बहुत ही अपूर्ण और विकलाङ्ग है।

आधुनिक

पाठक डा० खन्ना के इस स्वरूप से परिचित होकर समाजवादी विचार धारा के प्रति अनुरक्त न होकर उदास ही हो सकता है। डा० खन्ना जैसे अस्वस्थ मानसिक स्थिति वाले व्यक्ति का कम्यूनिष्ट होना सन्देह से खाली नही हो सकता। समाजवादी भाव धारा का अनुसरण करने के लिये जिस स्वस्थ प्रवृत्ति, सस्कृत हृदय और परिष्कृत बुद्धि की अपेक्षा है उसका आभास भी कथा नायक मे नही मिलता। उपन्यास की यह बहुत बड़ी कमी है।

जो व्यक्ति अपनी विकृतियो मे मग्न होकर आत्म-सस्कार के प्रश्न को भविष्य के लिये छोड़ देता है वह कभी जनता का पथ-प्रदर्शक नही बन सकता, यह मेरी दृढ़ धारणा है। महादेवी जी ने ठीक ही लिखा है—'हमारे साथ विकलाङ्ग भी हो सकते हैं और व्याधि ग्रस्त भी, पर निर्माण के लिये हमे पूर्णाङ्ग और सबल व्यक्ति चाहिये। जब निर्माण हो चुके तब हम विकलाङ्गो और पीडितो को सरक्षण भी दे सकते हे और उन्हे स्वस्थ बनाने के साधन भी एकत्र कर सकते हैं। किन्तु कुछ बनाने का कार्य आरम्भ करने के पहले यदि हम उन्हे अपने आगे खडा कर लेते हैं तो अपनी असमर्थता के विज्ञापन के अतिरिक्त कुछ नहीं करेगे'। वास्तव मे लेखक कभी भी विकृतियो मे उलझी मानसिक दुर्बलता को किसी भी सुन्दर और सामूहिक सिद्धान्तवाद मे छिपा नही सकता, इसे सदैव स्मरण रखना होगा।

आशा है कि लेखक अपनी विधायक तथा अभिनन्दनीय शैली का उपयोग भविष्य मे अधिक सतर्कता और सयम से करेगा क्योकि राजनीतिक सिद्धान्त की चर्चा से परे 'देशद्रोही' एक आकर्षक उपन्यास और यशपाल एक सफल कथाकार हैं।

अन्य कथाकार

विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक'—कौशिक जी हिन्दी कथा-साहित्य के पुराने और परीक्षित कलाकार हैं। हास्यरस की छोटी कहानियों मे उन्होंने काफी सफलता प्राप्त की है। 'माँ' और 'भिखारिणी' आपके दो उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं। कौशिक जी अपने विषय के चुनाव मे बहुत ही सतर्क हैं। जीवन तथा जगत् की जिन वास्तविकताओं का उन्हे पूर्ण ज्ञान होता है उन्ही को वे अपने कथानको मे सजाते-सँवारते है। कौशिक जी अपने वर्णन, कथोपकथन और भाषा की प्रवाहमयी शैली मे प्रेमचन्द जी के बहुत निकट हैं। कौशिक जी की हार्दिकता प्रेमचन्द से भी आगे है, हृदय स्पर्श की क्षमता उनकी कृतियों मे बहुत है। प्रेमचन्द के प्रायः कथानक बहुत ही गुथे तथा उलझे हुये रहते हैं किन्तु कौशिक जी अपने कथानको की प्रतिपादना मे स्पष्टता तथा रोचकता को पहला स्थान देते हैं। 'माँ' नामक उपन्यास मे मानवीय जीवन की भावी विकास-विधि मे माँ के आश्रय का अधिकार प्रदर्शन बडी सावधानी से किया गया है। सन्तान की जीवन-सुचारुता मे माँ का प्रभाव वास्तव मे बहुत निश्चित रहता है, इसी तथ्य का सुन्दर चित्रण इस उपन्यास मे बडी सफलता से किया गया है। प्रेमचन्द-युग के आदर्श से कौशिक जी भी प्रभावित हैं।

'भिखारिणी' मे एक भिखारिणी के अनुपम अनुराग और अतुल त्याग की करुण-कोमल कहानी है। गरीबी और मलिनता के भीतर भी एक उच्च और समवेदनशील मानवीय हृदय की स्थिति का प्रकाशन इसमे कौशिक जी ने बड़ी सावधानी से किया है। अपनो सहज दुर्बलताओ से दबा हुआ रामनाथ आजकल के भावुक और सस्ते

आधुनिक

रोमान्टिक युवको का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। सीधी कहानी और थोड़े से पात्रो को लेकर कौशिक जी बड़ी कुशलता से अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण कर जाते हैं। जीवन की किसी मार्मिक घटना को वे सम्पूर्ण-जीवन-चित्रण से अधिक महत्व तथा ममता देते हैं, जिसके फलस्वरूप उनकी कहानियो का प्रभाव और आकर्षण बहुत बढ जाता है। कथानको की सरलता और रमणीयता के वे कुशल कलाकार हैं। चरित्र-चित्रण के विकास मे कौशिक जी अपने प्रवचनो तथा काल्पनिक घटनाओ का सहारा न लेकर पात्रों की रहन-सहन तथा बातचीत से उनका परिचय देते हैं, जो बहुत ही स्वाभाविक और विश्वसनीय जान पड़ता है। प्रेमचन्द की भाँति कौशिक जी के पात्र भी व्यक्ति की अपेक्षा वर्ग का प्रतीक बनकर उपस्थित होते हैं, किन्तु 'भिखारिणी' का आत्मबल इतना प्रबल है कि वह स्वय परिस्थितियो की दासी न होकर स्वामिनी है। सवादो की सफलता मे कौशिक जी सबसे आगे हैं, उनकी व्यावहारिक भाषा इसका सबसे सुन्दर और सफल वाहन है।

चतुरसेन शास्त्री—कुछ साल पहले शास्त्री जी की कहानियो की बडी धूम थी, किन्तु अब इधर वे बहुत कम लिखते हैं। आपने कुछ सुन्दर ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। 'हृदय की परख', 'अमर अभिलाषा', 'हृदय की प्यास' तथा 'आतमदाह', आपने ये चार उपन्यास भी लिखे हैं। इनमे 'अमर अभिलाषा' सब से अधिक सफल रचना है। इस उपन्यास में हिन्दू-समाज की विधवाओं का बहुत ही करुण और सजीव चित्रण है। छः विधवाओ की कहानियों को एक सूत्र मे बाँधने का प्रयास कुछ खटकता सा है। समस्या की विवेचना के साथ उसके सुधार का सुझाव भी लेखक ने सकेत-रूप से उपस्थित किया है। उद्देश्य की उत्तमता के साथ-साथ इस उपन्यास की समस्या बहुत पुरानी और पिछले युग से अधिक

सम्बर्द्धित प्रतीत होती है। चित्रण मे कही-कही अस्वाभाविकता और मर्यादा-भग का दोष भी स्पष्ट है। अश्लील अवतरणो का प्रबोधन पाठिकाओं के प्रति करके शास्त्री जी ने अपनी साहित्यिक सुरुचि से विद्रोह किया है। इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य उत्तेजनामय प्रचार मालूम पडता है। ऋषभचरण जी की सम्मति इस उपन्यास के बारे में बहुत ही लचर और असंतुलित है। कला की सृष्टि और प्रचार की उपदेशात्मक प्रवृत्ति में अन्तर समझने वाले व्यक्ति सम्भवतः इस उपन्यास की उतनी अधिक प्रशसा नही कर सकेंगे। 'आत्मदाह' का कथानक और भी अव्यवस्थित है। उपन्यास पढ़ने से पता चलता है कि लेखक के पास कोई पूरी कहानी नही है, वह उसे शब्दो की शक्ति और अर्थ-हीन भावुकता के सहारे आगे बढ़ाना चाहता है, किन्तु वह बढ़ नही पाती।

यथार्थ की ओर अपनी प्रतिभा का प्रयोग करनेवालो मे उग्र के बाद शास्त्री जी का स्थान रहेगा; क्योकि चाहे उनके निर्वाह में कमी हो, पर वे उद्देश्य की स्पष्टता मे सफल हैं। शास्त्री जी की भाषा-शैली चुस्त और चालू है, किन्तु भाषा मे पछाँहीपन का आग्रह उसके प्रभाव को नष्ट कर देता है। निश्चित विचार तथा सिद्धान्त उनके कथानक को और भाषा की अनाकर्षकता कहानी की रोचकता को बिगाडकर एक ऐसी स्थिति मे पहुँचा देते हैं, जहाँ पर एक समस्या के सुझाव के साथ अन्य अनेक उलझने सामने आ पडती हैं। शास्त्री जी मे प्रतिभा, मौलिकता और भावुकता की कमी नही, किन्तु उनकी कला का रूप-विन्यास बहुत पुराना और घिसा-घिसाया है। वे कहानीकार अधिक अच्छे हैं।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव—अग्रेजी सभ्यता के विकास के साथ-साथ भारत मे एक ऐसा नया वर्ग उत्पन्न हो गया है जो नगरों की नाक 'सिविल लाइन्स' के बंगलों मे रहता और अपने को 'साहब' नाम से सम्बोधित कराके सन्तुष्ट रहता है। क्लब की पार्टियाँ, टेनिस के मैदानों की क्रीडाये तथा सिनेमा-घरो की हास-लडियाँ ही उनके जीवन की

आधुनिक

विनोद-वीथियाँ हैं। साधारण जनता से दूर, लोगों के भय-जनक आदर्श के आधार तथा अंग्रेजी सभ्यता के कर्णधार लोगो की ओर बहुत कम कथाकारो ने ध्यान दिया है। वे केवल 'बाबुओं' तक ही पहुँचते रहे; इन 'साहबों' की तरफ ध्यान नही दिया। श्रीवास्तव जी ने इस वर्ग को अपनी प्रतिभा का प्रथम प्रकाश दिया है।

'विदा' इनका पहला उपन्यास है, जो अपने विषय की सीमा मे सफल और सुन्दर है। अच्छाई या बुराई किसी वर्ग या जाति की बपौती नही होती, सभी जगह त्याग और उदारता के उदाहरण मिल सकते हैं। परिश्रम करते समय जितना किसान का पसीना बहाना सच है, विहार करते समय रईस का रुपया बहाना भी उतना ही सच है। विलास की ज्वाला मे असख्य धन हमारे यहाँ के उच्च वर्ग के लोग स्वाहा करते हैं, यदि इस बात का ज्ञान हमे पूरी तरह हो जाय तो उसके उपार्जन के आधार किसानो की दशा का स्पष्ट स्वरूप सामने आ जाता है। श्रीवास्तव जी ने इसी रहस्योद्घाटन की औपन्यासिकता दिखाई है। 'विदा', 'विकास और 'विजय', तीनो के उद्देश्यो मे बहुत कुछ साम्य सा दिखाई पडता है। नारी-समस्या का प्रवेश तीनो उपन्यासो मे किसी न किसी प्रकार कराया गया है। अपूर्व त्याग और क्षमता के उदाहरण प्रत्येक उपन्यास मे समान रूप से मिलते हैं। स्त्री-स्वतन्त्रता का सन्देश तीनो उपन्यासो मे मिलता है। कुछ अपनी अलग-अलग विशेषताएँ भी है, किन्तु साम्य का सूत्र भी निश्चित है।

'विदा' मे दाम्पत्य-प्रेम और मातृ-भक्ति का सघर्ष होता है और मातृ-भक्ति की विजय होती है। डेक नामक डाकू की सृष्टि उपन्यास मे जासूसी चमत्कार की उद्भावना करता है। चपला का चरित्र बहुत ही साफ और उज्ज्वल बन पडा है। 'विलास' में कुली प्रथा के प्रति बड़ो के पाशविक अत्याचार का अत्यन्त मार्मिक उद्घाटन है। अमिलिया इस उपन्यास की महिमामयी उदार नारी है। पुनर्जन्म की

प्रसिद्धि का आग्रह पाठको की बौद्धिक वृत्ति को सतोष नही दे पाता। आघात द्वारा पूर्व जन्म की स्मृति का जागरण श्रीवास्तव जी की अपनी सूझ है। 'विजय' मे विधवा-विवाह की समस्या का सुझाव लेखक के सामने उपस्थित है। यह समस्या साधारण मध्यवर्ग के समाज के माध्यम से अपनी उपस्थिति नही देती, वरन् एक शिक्षित, धनवान, उच्चवर्ग की अपेक्षा रखती है। स्वभावतः समस्या परिस्थिति-जन्य न होकर बौद्धिक स्वरूप धारण कर लेती है। इनके पात्र सजीव और कथा रोचक होती है। भाषा मे बेमेल शब्दो का गठन खटकने वाला होता है। इनकी भारतीय-आदर्श-प्रियता सब से बड़ी विशेषता है।

श्रीनाथ सिह—ठाकुर श्रीनाथ सिह वास्तव मे एक पत्रकार हैं, किन्तु कहानी तथा उपन्यास भी वे लिखते हैं। 'उलझन', 'जागरण' और 'प्रभावती' तथा 'प्रजा-मडल' नामक उनके चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। पत्रकार का स्वभाव प्रचारात्मक होना स्वाभाविक ही नही, आवश्यक भी है। ठाकुर साहब अपनी कृतियो को भी इससे ऊँचे नही उठा पाये। 'जागरण' की भूमिका मे लेखक ने बताया है कि वह इस उपन्यास की सृष्टि उसी प्रेरणा से करता है जिस प्रेरणा से मुहम्मद, ईसा तथा हमारे अन्य प्राचीन ऋषि-मुनि कार्य किया करते थे। लेखक की यह अभिमानपूर्ण विज्ञप्ति उपन्यास की सफलता मे साकार नही हो सकी। इसका कथानक महात्मा गाधी द्वारा निर्धारित ग्राम-सुधार पर आधारित है, किन्तु यह सिद्धान्त पात्रो का अपना विश्वास नही हो पाया, वरन् लेखक ने इसे उन पर जबरन् थोपा है। पात्रो के जीवन का स्वाभाविक विकास कभी लेखक की वकालत से सम्भव भी नही होता।

अछूतो के विषय मे लम्बे-लम्बे वाद-विवाद, शासक-वर्ग के कर्मचारियो के अत्याचार, स्त्रियो का उद्धार, आदि की बाते उपन्यास के वातावरण की उपज न होकर लेखक के आग्रह की आकुलताएँ मात्र ज्ञात होती हैं। बीच-बीच के प्रसंगो से गाधी-दर्शन का स्पष्टीकरण

आधुनिक

अवश्य होता है, किन्तु वह कला की वस्तु न होकर ज्ञान का विषय है। 'उलझन' मे विवाह की समस्या की उलझन है। फाँसी और हत्या के उपायो द्वारा इस समस्या के सुझाव का प्रयत्न सफल नही हो पाता। आदर्शवाद के निर्वाह के कारण लेखक ने वैवाहिक सम्बन्ध की अपेक्षा भाई-बहन, माता-पुत्र के सम्बन्ध को अधिक महत्व दिया है। सम्भवतः लेखक का दृष्टिकोण दाम्पत्य-सम्बन्ध के प्रति निराश और उदास है। इन उपन्यासों में एक ओर इतना आदर्शवाद है कि जगतनारायण पत्नी से भी बहन का सा व्यवहार रखना चाहते हैं, किन्तु दूसरी ओर स्त्री-स्वतन्त्रता के पक्षपात मे किसी की पत्नी को किसी के पति के साथ रहने मे हानि नही समझते। वास्तव में ये बाते उलझन की हैं।

'प्रजामडल' लेखक का आधुनिकतम उपन्यास है। इसमे देशी नरेशो और उनकी प्रजा के अन्यायपूर्ण शोषण-सम्बन्धो की विवेचना है। विषय तो बहुत मौलिक और उपयोगी है, किन्तु लेखक की पहुॅच उसमे कम है। पुस्तकों और जनश्रुतियों से लिये गये कथानको मे अनुभूतिमय साहित्यिक सचाई नही आ पाती। ठाकुर साहब की प्रायः सभी कृतियाॅ उपदेशात्मक प्रचार की पीठिका पर आरूढ हैं। उनकी भाषा की प्रौढता और अपनी मान्यताओं की दृढता अवश्य ही काबिले तारीफ है। कथावस्तु को आगे बढाने के लिये दैवी-शक्ति और हवाई जहाजों का सहारा आधुनिकता और प्राचीनता का अद्भुत मेल है।

राधिकारमणप्रसाद सिंह—लक्ष्मी के लाल होते हुए भी साहित्य की सेवा का अनुराग राजा साहब की सुरुचि का उत्तम उदाहरण है। आपकी छोटी कहानियाॅ बहुत ही भावमय और सरस होती हैं। 'रामरहीम' आपका बहुत बडा उपन्यास है, आकार मे सम्भवतः उससे बडा उपन्यास हिन्दी मे आज तक नही लिखा गया। इस उपन्यास के विषय मे लेखक ने लिखा है—"रोजमर्रे की एक दिलचस्प कहानी की टेक लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोल कर रख

देने की कोशिश की गई है। यथार्थवाद के मौसम मे आदर्शवाद के छीटे हैं। आजकल की टकसाली कला के पहलू में अपनी पुरानी धज भी कायम रखने की कोशिश की गई है। भारतवर्ष के अन्तर्गत इस युग के आचार को, इस युग के विचार को, इस युग की पुकार को दो जीती-जागती स्त्रियो के जीवन पर प्रस्फुटित करने का प्रयास किया गया है।"

आपकी भाषा का आकर्षण बहुत ही बढा-चढा और रोचक है, इसमे सन्देह नही। यह उपन्यास इतना विराट है कि इसके कथानक मे सबद्धता और शैली मे सरलता बनाये रखना वास्तव मे लेखक की प्रतिभा का प्रमाण है। कथानक मे शाखाये, प्रशाखाये इतनी फूटती हैं, किन्तु उनका सब का सम्बन्ध मूल कथा से कभी छूटने नही पाता। रोचकता और कौतूहल की भी कमी नही होती। बेला और बिजली नाम की दो नारियो की विरोधात्मक भावधारा का तुलनात्मक विश्लेषण ही इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। बीच-बीच मे प्रासगिक रूप से अन्य अनेक उच्च तथा निम्न वर्ग के पात्र अपनी उपस्थिति दे जाते हैं, किन्तु वे केवल कथा की गति के सहायक मात्र होते हैं। फिर भी पात्रो की इस क्षणिक-जीवन-धारा मे भी लेखक उनके व्यक्तित्व का स्पष्ट आभास पाठको को देता चलता है। जीवन का अध्ययन और अनुभव लेखक को है, यह बात उपन्यास पढ़ने से साफ हो जाती है।

इधर 'पुरुष और नारी' इनका दूसरा उपन्यास भी निकला है। यह तो साफ है कि लेखक ने साहित्य को किसी व्यावसायिक दृष्टि से नही अपनाया, जिसके कारण उसके व्यक्तिगत विचारो की अभिव्यक्ति की सुविधा बहुत बढ़ गई है। सृजन के लिये ऐसी सुविधा स्वयं एक विशेषता की महत्ता रखती है। दोनो उपन्यास घटना-प्रधान होते हुये भी मनोवैज्ञानिकता से पूर्ण हैं। सुधार और प्रचार तथा योजनाओं के निर्माण की अपेक्षा राजा साहब ने अपने कथानकों का विकास बहुत

आधुनिक

ही स्वाभाविक ढग से किया है। समाज मे इन कृतियो का आदर होना चाहिये।

चडीप्रसाद हृदयेश—जीवन की सहज-सरल स्वाभाविकता का आग्रह आधुनिक कथासाहित्य की सब से बडी महानता मानी जाती है। चित्रण, वर्णन तथा घटनायेसामान्य सामूहिक जीवन की स्वाभाविकता से अपना विकास पाकर जीवन की सचाई का उन्मेष करते हैं। प्राचीन भारत मे संस्कृत मे गद्यमयी आख्यायिकाये भी अलकृत प्रणाली पर लिखी जाती थी। अलकारो की योजना, भाषा की कवित्वमय प्रासादिकता ही उनकी सब से बड़ी विशेषता मानी जाती थी। पात्रो की बातचीत भी तथ्य-उद्घाटन की अपेक्षा रसाभास देने मे ही अपना विस्तार पाती थी, जिसमे गद्य के विश्लेषण की अधिकता से काव्यानन्द ही अधिक प्राप्त होता था। कहानी तथा उपन्यास की नवीन चेतना ने अपने को उससे अलग रखने ही मे अपना सम्मान समझा और कृत्रिमिता को छोड़कर जीवन की निश्चित और विश्वसनीय परिस्थितियों के उद्घाटन मे अपना आदर्श पाया। हृदयेश जी आधुनिक चरित्र-चित्रण तथा प्राचीन वर्णन-प्रणाली के मेल से अपनी कथाओ का शृगार करना अधिक उपयोगी समझते थे। उनकी प्रतिभा और पाडित्य इस निर्वाह के अनुपयुक्त थी।

'नन्दन-निकुज' उनकी कहानियो का भावपूर्ण काव्यात्मक सग्रह है, और 'मगल प्रभात' एक सामाजिक उपन्यास। यह एक आदर्शवादी उपन्यास है जिसमें सेवा, त्याग और आत्मशुद्धि आदि सास्कृतिक भावनाओं की विवेचना का उत्तम आदर्श रखा गया है। दिव्य गुणो से विभूषित उच्च आध्यात्मिक चरित्रो के साथ इसमे कुछ निम्न प्रवृत्तियो के व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण है, किन्तु लेखक का आग्रह आध्यात्मिकता की ओर ही अधिक है। कथानक के प्रारम्भ, बीच और अन्त में धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक वर्णनों की बहुतायत से उसकी गति

वर्मा जी ने लिखा है—"मुझे प्रसन्नता है कि उपन्यासकार के रूप में हिन्दी-ससार ने मुझे काफी आगे देखा। नये उपन्यास-लेखकों में मुझे अग्रणी कहा गया। हिन्दी-ससार ने जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और अज्ञेय के साथ आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ तीन उपन्यास-लेखको मे मेरा भी नाम लिया। यह बहुत बडा सम्मान है। एक उपन्यास के बलपर इतनी प्रसिद्धि कम ही लोगो को मिलती है।" अपने सम्मान की इस अप्रत्याशित बाढ़ पर कुछ कहने के बाद वर्मा जी ने अपने जीवन-दर्शन का भी परिचय दिया है, जिसका सार यह है कि लेखक स्त्री की पतिपरायणता (सतीत्व) को पूँजीवाद की उपज समझता है, और उसका विचार है कि विवाहित स्त्रियों को भी मनमाने समय और मनचाहे आदमी के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। 'नरमेध' मे इसी विचार के प्रचार की चेष्टा है।

पिछली पीढी की उपदेशात्मक सामाजिक उपन्यास-कला ने वृद्ध-विवाह को रोकने और विधवा-विवाह को गतिशील बनाने के लिये अपने कथानकों में युवती सौतेली माँ से युवक सौतेले पुत्र का अनुचित सम्बन्ध दिखा कर वृद्ध-विवाह की प्रथा पर कुठाराघात करने की सम्भावना खोज निकाली थी। विषय की कुरूपता के साथ उसके उद्देश्य की सुचारुता से किसी का विरोध नहीं हो सकता। वर्मा जी ने भी उसी पुराने घिसे-घिसाये वस्तु-सगठन का सहारा लिया है, किन्तु उनका उद्देश्य वृद्ध-विवाह की प्रथा के प्रति क्षोभ उत्पन्न करना न होकर सतीत्व की प्रथा पर आघात करना है। 'नरमेध' का नायक अपने पिता के वृद्ध-विवाह के विरोध मे घर से भागता है और उसी रात को अपने एक मित्र की पत्नी को उसके सतीत्व से मुक्ति देता है, उसके बाद अपनी सौतेली माँ को भी गर्भवती बनाता है। नर-नारी के सम्बन्धो पर लेखक का अपना विचार कुछ भी हो, किन्तु उपन्यास की सीमा में वह नहीं समा सका,

आधुनिक

यह निश्चय है। कला तथा साहित्य मनुष्यता और पशुता की स्पष्ट अन्तर-रेखा है, इसमे प्राणहीन उच्छ्रृखलता तथा विवेकहीन अव्यावहारिकता को प्रश्रय नही दिया जा सकता। पूरे उपन्यास मे नायक की निर्लज्जतापूर्ण शठता और लेखक की असयम-जनित अराजकता का आभास छोड कर पाठको को और कुछ नही मिलता। 'निकट की दूरी' 'नरमेध' से अधिक अच्छा बन पडा है।

नरोत्तमप्रसाद नागर—इधर कुछ वर्षों से कथा-साहित्य मे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का विशेष आग्रह दिखाई पडता है। जैनेन्द्र कुमार इस दिशा मे अग्रणी कहे जा सकते हैं। इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय ने भी अपनी कृतियो मे इसका समावेश करके समुचित सफलता प्राप्त की है। ऐसी कृतियो का सामान्य धरातल से कुछ ऊपर या कुछ नीचे रहना आवश्यक सा होता है, कारण व्यक्ति का विकास और ह्रास दोनो अपना मनोवैज्ञानिक पहलू रखते हैं। इस स्थिति मे कलाकार की प्रतिभा पात्रो के चुनाव की अपेक्षा उसके पात्रो की गति और उसके अनुभव की सीमा का विस्तार चाहती है। नागर जी ने जिस पात्र का चुनाव किया है वह सस्कार तथा समाज-जनित पीडा की कठोरता मे पडकर कुछ विकल और विक्षिप्त सा हो गया है। ऐसे व्यक्ति के मानसिक भावो के अध्ययन की लेखक ने चेष्टा की है।

उनके उपन्यास 'दिन के तारे' का नायक शशि अपने सस्कार और सामाजिक वातावरण के फलस्वरूप एक 'न्यूरोटिक' की भाँति जीवन मे आगे बढता है। सारा उपन्यास शशि की आत्मकथा है। शशि का मानसिक तथा शारीरिक विकास पूर्णतया अपने स्वभावानुकूल नही हो पाया और प्रतिक्रिया-स्वरूप उसका विधान रचनात्मक से अधिक ध्वसात्मक है। उसके इस स्वभाव की अनिवार्यता पर नागर जी ने काफी अच्छा प्रकाश डाला है, जो मनोवैज्ञानिक होने के साथ-साथ बोधगम्य भी है। शशि का समाज के साथ विद्रोहात्मक अथवा

विक्षोभात्मक भाव अपने परिवार की सीमा में ही विकसित होता है। उसकी शादी आशा से होती है, किन्तु 'एक-माताव्रती' होने के कारण शशि उसका सफल पति नही बन पाता, यद्यपि वह बाप हो जाता है। शशि के जीवन का यह स्तर उसकी मानसिक रुग्णता का परिणाम होने के कारण स्वस्थ मस्तिष्क मे प्रवेश नही कर पाता। यहाँ पाठक उसके प्रति भौचक्का सा बन जाता है। बेकारी की अवस्था मे शशि से एक बाबू जी का परिचय होता है। वे आधुनिक व्यावसायिक-वृत्ति के प्रतिनिधि और अपनी धूर्तता मे अकेले हैं। अपने सहकारियों का शोषण करने वाले बनिया-क्लास के इस व्यक्ति का चरित्र नागर जी ने बहुत ही सफाई से उभार कर सामने रखा है। बीच-बीच मे शशि के माध्यम से नागर जी ने समाज की विपन्नता और उसके पोपलेपन की ओर भी सकेत किया है।

शशि बाबू जी की दुर्नीति का बदला लेने की इच्छा-स्वरूप उनके दिये हुये नारियल को बाबू जी के सिर की कल्पना करके जमीन पर पटक देता है और सोचता है कि जैसे उसने उनके सिर को ही दे पटका हो। शशि की निष्क्रियता तथा उसके स्नायविक दौर्बल्य का इससे अधिक सजीव उदाहरण दूसरा नही हो सकता। शशि एक भयकर तथा विकृत मनोविकार-ग्रस्त प्राणी है, उसमे न सघर्ष की शक्ति है न विद्रोह का बल। वह एक स्त्रैण और अत्यन्त दुर्बल अर्ध-मानव है। सम्भवतः इसका कारण उसका माँ और बहन के प्रति अतुल आकर्षण हो। स्नेही पात्र की स्वाभाविक मनोस्थितियो का अप्रत्याशित आरोप अपने में कर लेना कोई आश्चर्य की बात नही। इस प्रकार 'दिन के तारे' विषय और वर्णन दोनो स्वरूपो मे औपन्यासिक सीमा मे प्रवेश नही कर पाता। कथानक, नायक की प्रतिपल परिवर्तित होने वाली अस्थिर मन-लहरियों के साथ जीवन के सामाजिक और पारिवारिक कूलो मे टकराकर छिन्न-भिन्न होता चलता है, उसमे सगति और समबद्धता का नितान्त

आधुनिक

अभाव है। लेखक की विश्लेषणमयी ज्ञान-गरिमा ने शशि को आदर्श रूप मे उपस्थित करने का प्रयास किया है, किन्तु वह रबड के गुब्बारे की भाँति जीवन की दीर्घ श्वास से फूल कर अपने आप फट्ट की आवाज के साथ फट जाता है। भूमिका मे युग की निष्क्रियता का निदर्शन फटने के सक्रिय स्वर मे विलीन हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय कलाकार के लिये आवश्यक है कि वह अपने पात्रो के विकास-क्रम मे स्वय अपनी मानसिकता का दुर्बल पहलू अज्ञात रूप से सामने न रख दे। क्या ही अच्छा होता कि नागर जी गाधी, जैनेन्द्र तथा अन्य व्यक्तियो एव कृतियो के विश्लेषण को कभी आत्माभिमुख भी कर पाते। पर-हित-काज निर्मित जाल मे स्वय फँस जाना मनोवैज्ञानिकता की सबसे बड़ी विडम्बना है। तटस्थता की वैज्ञानिक महत्ता चरित्रो के आन्तरिक अध्ययन मे बहुत आवश्यक है, अन्यथा 'काम्प्लेक्सो' की कठिन-कारा मे कलाकार को स्वय बन्दी बन जाना पड़ता है। मै स्पष्ट शब्दो मे कह देना चाहता हूँ कि राजनीतिक नेताओ की कार्यावलियाँ और प्रेमचन्द की कृतियाँ जीवन के उस निष्क्रिय छोर को भी नही छूना चाहती जो शशि के सम्पूर्ण जीवन का ओढन-डासन है। "हमारी दशा उस मद्यप जैसी हो गई है जिसे अब कोई भी नशा उत्तेजित नही कर सकता" वाली उक्ति जितना शशि पर लागू होती है किसी अन्य औपन्यासिक चरित्र पर नही। वास्तव मे व्यग का उलट जाना भयानक होता है। नागर जी ने लिखा है—"जहाँ प्रेमचन्द 'ऐक्शन' का चित्रण कर सके थे वहाँ इन पक्तियो के लेखक ने 'इन-ऐक्शन' का चित्रण किया है।" लेखक की इस प्रतिभा का परिचय उपन्यास के नायक के इन शब्दो से "बेकार मै हूँ और बेकार ही मै रहूँगा। जमकर काम करना क्या होता है, यह मेरी समझ मे नही आता," पूर्णतया प्राप्त हो जाता है। जम न सकने

की अस्थिर सामाजिक व्यवस्था की प्रतिक्रिया और न जमने की स्थिर मनोवृत्ति का विरोधाभास अद्भुत और अनोखा है।

अन्त में यह कह देना अनुचित न होगा कि पूरी पुस्तक का शब्द-विन्यास, भाव-सचरण और कथानक का विकास सभी इतने उलझे हुये और शिथिल हैं कि पाठक का मन लेखक के मूलोद्देश्य तक पहुँचने के पहले ही थक सा जाता है, और किसी कदर यदि अन्त तक वह पहुँच भी जाय तो उसे वही क्षोभ होता है जो प्यासे को कुएँ के पास पहुँच कर उसके सूखेपन की व्यर्थता के बोध से सम्भव है। नागर जी गम्भीर परिहासात्मक रेखा-चित्रो और विक्षुब्ध मस्तिष्क की स्वगतोक्तियो के उद्घाटन मे सफल है। शशि के निकम्मेपन के चित्रण मे उनकी कर्मठता की प्रशसा न करना कलाकार के प्रति अन्याय होगा, इसमे सन्देह नही।